जनसाधारण के धर्म का स्थान ग्रहण करने में असमर्थ थी। लोक-धर्म परिपक्व और अपरिपक्व सभी प्रकार की चेतनाओं को साथ लेकर चलता है; पर निर्गुण मार्ग ऐसा नहीं कर सकता। निर्गुण के विस्तीर्ण क्षेत्र में भक्ति का जल अवश्य फैल जाता है; पर उसकी गहराई कम हो जाती है। हिंदू मुसलमान आदि सभी जातियाँ निर्गुण पंथ में सम्मिलित होने के लिये स्वतंत्र थीं; पर सभी जातियों के सभी लोग स्वभावतः उसमें सम्मिलित नहीं हो सकते थे।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि निर्गुण पंथ लोक-विरोधी स्वरूप को लेकर चला था। ऐसा करना निर्गुण पंथ के प्रवर्तकों के उद्देश्य से घोर अनभिज्ञता प्रकट करना है। निर्गुणियों ने लोक का उतना ही विरोध किया है जितना वह विरोध लोक-संरक्षण में सहायक हो सकता था तथा जितने से लोक अपनी पारमार्थिक सत्ता को न भूले। लोक का लोकत्व जहाँ लोकत्व ही के लिये है वहाँ वह स्वार्थ की वृत्तियों से अभिभूत हो जाता है। ऐसी दशा में न वह रक्षा किए जाने के योग्य रहता है और न इसी योग्य कि स्वयं अपनी रक्षा कर सके। धर्म अनुभूति का विषय है; किंतु लोकधर्म में अनुभूति के बिना भी धर्म की ओर प्रवृत्ति दिखाना एक सामाजिक गुण है। राजशक्ति की ओर से सारी जनता में एक ही धर्म के प्रसार के प्रयत्न के मूल में भी संभवतः लोक-संग्रह की ही भावना हो। परंतु अनुभूति-हीन वैराग्य धर्म उस लोक-विरोधी रूप में प्रकट होता है जो समाज की शृंखला को तोड़ देता है। निर्गुण पंथ के प्रवर्तक कबीर साहब भी इस संभावना के लिये आँखें बंद किए हुए नहीं थे। गुरु बनकर समाज के सब बंधनों से परे हो जाने के इच्छुक अनुभूति-हीन वाचक ज्ञानियों को ही लक्ष्य करके कबीर ने कहा था—

"पहरयो काल सकल जग ऊपर, माहिं लिखे सब ज्ञानी।"

"लाया साखि बनाय कर इत उत अच्छर काट,
कहु कबीर कब लग जिए जूठी पत्तल चाट।"

ऐसे ज्ञानियों से तो संसारी भला, जो परमात्मा के भय से लोक-मर्यादा के घेरे में रहता है।

"ज्ञानी मूल गँवाइया आप भए करता।
ताथे संसारी भला जो रहे डरता॥"

तुलसीदासजी के समय में यह दिखौआ ज्ञान बहुत फैल गया था। उन्होंने देखा कि—

"ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।"

लोक के लिये मर्यादित श्रुति-सम्मत धर्म के अंतर्गत जो भक्ति का मार्ग बताया गया है उसका तिरस्कार कर ये लोग नाना प्रकार के मनमाने पंथ चलाने लगे।

"श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति पथ संयुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥"

वेद और पुराणों की निंदा करना इन लोगों का एक आवश्यक लक्षण हो चला था। इसी में ये लोग अपने को कृतकार्य समझते थे और वास्तविक भक्तिभाव से कोसों दूर रहते थे—

"साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं बेद पुरान॥"

इस लोक-द्रोही रूप का निराकरण आवश्यक था।

लोक-धर्म की प्रतिष्ठा सगुण भक्ति-शाखा ही के द्वारा संभव थी। जिन परिस्थितियों ने जनता को भगवान् की शरण में जाने की प्रेरणा की थी उनका निराकरण हुए बिना जनता के विश्वास के लिये आधार नहीं मिल सकता था। त्रिगुणात्मक संसार के कष्टों को निर्गुण ब्रह्म भी सगुण साधन के ही द्वारा दूर कर सकता है। किसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म पर इच्छा का आरोप करने पर भी वह मनुष्य के

ही हाथों से पूर्ण हो सकती है। लोक-कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त करने और होनेवाली शक्ति में हिंदू ब्रह्म का सगुण रूप देखते हैं। राम और कृष्ण न जाने कब से उनके भक्ति-भाव और विश्वास के आधार हो रहे हैं। फिर लोग राम और कृष्ण की ओर मुड़े। वैष्णव भक्ति ने भगवान् के इन्हीं सगुण रूपों को लेकर सारे देश को परिप्लावित किया। निंवार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण की भक्ति को और रामानंद ने सीता-राम की भक्ति को प्रधानता दी। भक्त कवियों ने उनका अनुसरण किया। इस प्रकार सगुण धारा की कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति दो प्रशाखाएँ हुईं।

निर्गुण धारा तो निवृत्ति-मार्ग को लेकर चली ही थी, कृष्ण-भक्ति ने भी प्रवृत्ति-मार्ग की उपेक्षा की। कृष्ण भी लोक-कल्याण-कारी रूप में प्रकट हुए थे। कर्म-मार्ग से विमुख होते हुए अर्जुन को उन्होंने अन्याय के दमन के लिये और न्याय की रक्षा के लिये युद्ध में प्रवृत्त किया था और स्वयं उसमें उनकी सहायता की थी। कृष्ण के इसी स्वरूप को देखकर संजय ने बरबस दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र से यह कटु सत्य कहा था—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

गीता; १८, ७८।

इस रूप की ओर कृष्ण-भक्ति ने दृष्टि नहीं ठहराई। कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं और रासलीलाओं में ही उसने अपनी कृतकार्यता समझी। सूर इत्यादि कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के जीवन के जिस आनंद-विनोदी अंश को सामने रखा उससे मनुष्य की वासना को ब्रह्मा-नंद की अपेक्षा अधिक तृप्ति अवश्य मिली; पर वह लोक के अधिक काम की न हुई। आगे चलकर हिंदी कविता में कृष्ण और राधा सदा के लिये विलासी नायक-नायिका का स्थान ग्रहण करने के

लिये घसीटे गए। लोक-संग्रह के भावों के स्थान पर उसने जनता को मुगलों की विलासप्रियता की नकल करने की योग्यता प्रदान की। जिस शक्ति के कारण मुसलमानों ने भारत के वैभव को अपनाया था और अब वे बेखटके विलासी हो रहे थे, उसके उत्पादन और सदुपयोग की विधि के ज्ञान की आवश्यकता अभी तक बनी हुई थी।

जिस समय भारत के वैभव पर लुब्ध मुसलमानों ने पश्चिमोत्तर से इस देश पर आक्रमण करना आरंभ किया था, उस समय उससे उतना भय नहीं था; क्योंकि वह बाहरी आक्रमण था और उसके प्रतिरोध का उपाय भी हो सकता था। भारतीयों ने अंत तक उसका उपाय किया भी। उनके उपाय के विफल होने पर भी मुसलमानों की विजय केवल शारीरिक जय थी। भारतीयों की आत्मा अब तक अजेय सिद्ध हुई। भारत की आत्मा को जीतने का उपक्रम मुगलों के समय में हुआ। सब अंडों को एक ही साथ पाने की आशा से सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी को काटने की मूर्खता का अनुभव शेरशाह को पहले पहल हुआ। अकबर ने उसकी नीति को चरम सीमा तक पहुँचाया और भारतीयों की आत्मा की विजय का श्रीगणेश हुआ। पश्चिमोत्तर के स्थूल आक्रमण ने सूक्ष्म रूप धारण कर भारत के केंद्र दिल्ली और आगरे को अपना प्रधान स्थान बना लिया। स्वाधीन नेता हिंदुओं की बेड़ियाँ सोने की कर दी गईं और वे अब उन्हें गहने समझकर चाह से पहनने लग गए। मानसिंह सरीखे कई वीरश्रेष्ठ राजा अकबर बादशाह की नौकरी करना अपना सौभाग्य समझने लगे। नौकरी और शिक्षा के बीच में वह अनिष्टकारी संबंध स्थापित हो गया जो आज भी हमारे राष्ट्रीय जीवन का अभिशाप हो रहा है। शिक्षा से संस्कृति का संबंध न रह गया था। माता-पिता अपने बालकों को वही

शिक्षा देना पर्याप्त समझते थे जिससे वे अपनी उदर-पूर्ति कर सकें। तुलसीदासजी को यह बात विशेष अखरी—

"मात पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिं॥"

हिंदुओं ने भी मुसलमानी बाना पहन लिया। जहाँ तक केवल मुल्ला लोग हिंदू धर्म पर आक्रमण करते थे, वेद-पुराणों की निंदा करते थे वहाँ तक तो विशेष चिंता की बात न थी। परंतु हिंदुओं ने जब मुसलमानों से इस बात को सीख लिया तब वर्णाश्रम की व्यवस्था और निगमों के अनुशासन में व्यवधान पड़ने का पूरा आयोजन हो गया, जिससे हिंदू धर्म की नींव हिल जाती। निर्गुणियों के वर्णाश्रम धर्म और निगमागम का विरोध बहुत अंश में मुसलमानी प्रभाव का परिणाम था। मुल्लाओं की नकल करके हिंदू भी वर्णाश्रम और वेद-पुराणों की निंदा करना सभ्यता का चिह्न समझने लग गए—

"बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति-बिरोध-रत सब नर नारी॥"

प्रतिष्ठित राज-घरानों की लड़कियाँ अकबर के हरम की शोभा बढ़ाने लगीं। कट्टर हिंदू की दृष्टि में इससे अधिक हीनता का दृष्टांत हो ही नहीं सकता था। महाराणा प्रताप के अकबर को उसका फूफा कहने पर मानसिंह लज्जित होने के बदले क्रुद्ध हुआ था और परिणाम हुआ हल्दीघाटी की लड़ाई। हल्दीघाटी की लड़ाई में हिंदुओं का विदेशी शक्ति के विरोध में अस्त्र ग्रहण करना उस सूक्ष्म सांस्कृतिक युद्ध का स्थूल व्यक्त रूप था जिसमें हिंदू हिंदुत्व पर आक्रमण कर रहे थे। पर यह विरोध देशव्यापी नहीं था। इसमें राष्ट्रीय भावना का अभाव था। सूक्ष्म भाव-क्षेत्र में होनेवाले इस सांस्कृतिक संघर्ष में हिंदुत्व को अपनी रक्षा के लिये प्रताप से भी बड़े योद्धा की आवश्यकता थी, जो केवल कुछ राजपूतों

को ही नहीं, प्रत्युत संपूर्ण हिंदू समाज को अपनी रक्षा के लिये संगठित करता। तुलसीदास के रूप में वह योद्धा प्रकट हुआ। परंतु यह न समझना चाहिए कि तुलसीदासजी को धर्म के नाम पर वैमनस्य बढ़ाना अभीष्ट था। इसके विपरीत उन्होंने कहीं भी इस बात का आभास नहीं आने दिया है; क्योंकि वे जानते थे कि तामसिक वृत्तियों को जागरित कर जो स्फूर्ति उत्पन्न की जाती है वह क्षणस्थायिनी होती है; और जाते जाते अपने आश्रय को और भी निर्बल बनाकर छोड़ जाती है। इसके अतिरिक्त धर्म-विरोध हिंदू धर्म के सिद्धांतों के प्रतिकूल है। इसी लिये गीता में कहा है कि जो धर्म और धर्मों का विरोधी हो वह धर्म नहीं, अधर्म है। तुलसीदासजी ने जिस मार्ग का अवलंबन किया उसमें समय की आवश्यकता और न्याय-संगतता दोनों का ध्यान रखा गया था। स्वयं बल का संपादन कर विरोधी के आक्रमणों को अटल सहते हुए उनकी व्यर्थता प्रदर्शित करना वे उचित समझते थे, जिससे वह स्वयमेव अपने विरोध को छोड़ दे।

इसके लिये यह आवश्यक था कि हिंदू समाज का पतितावस्था से उद्धार किया जाय। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, हिंदुओं की परमुखापेक्षिता के कारण उनका जो पतन हुआ था उसने जीवन के सभी विभागों में व्याघात डाला था। समाज में उच्छृंखलता बढ़ गई थी। शील की विगर्हणा और विलासिता की वृद्धि हो रही थी। असहिष्णु विदेशी राजाओं का तो कहना ही क्या, स्वयं हिंदू राजा भी प्रजा के धन के लालची थे। वे प्रजा की चारित्रिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपना धर्म नहीं समझते थे—

" गोंड गँवार नृपाल कलि, जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥

× × × ×

अनंत शक्ति को भी दृष्टि के सामने रखा, जिसके साथ अनंत शील का संयोग होने के कारण वह समाज की स्थिति-रक्षा में सर्वथा उपयोगिनी सिद्ध हुई। तुलसीदासजी के काव्यों में वाणी की शक्ति का संपूर्ण चमत्कार प्रकट हुआ है। इसी अद्भुत और असाधारण प्रतिभा के कारण उन्होंने देश और काल की क्षुद्र सीमाओं का अतिक्रमण किया है, जिससे विश्व भर के विद्वान् उनको अपनी अपनी श्रद्धा-पुष्पांजलि चढ़ाने के लिये प्रतिस्पर्द्धा दिखला रहे हैं।

---

(२) जीवन-सामग्री

आजकल आत्म-चरित लिखने की प्रथा सी चल गई है; परंतु दीनता-प्रिय भक्तजन अपने जीवन की घटनाओं को तुच्छ समझकर उनकी ओर ध्यान नहीं देते। कोई भी ऐसा काम करना जिससे नाम मात्र को भी आत्मश्लाघा प्रगट हो वे गर्हित समझते हैं। ऐसी दशा में यह आशा करना कि भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी की रचनाओं से उनके जीवन-चरित पर बहुत प्रकाश पड़ेगा, निष्फल हो जायगी। अपनी दीनता दिखाने के लिये उन्होंने स्थान स्थान पर जो कुछ अपने विषय में कहा भी है उस पर मनमानी घटनाओं को वैठाना अनुचित है। वे भावुक उद्रेक मात्र भी हो सकते हैं और यदि घटनात्मक भी हुए, तो भी जब तक हमें कोई अन्य साक्ष्य नहीं मिल जाता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उनके आधार पर किसी सच्ची घटना का निर्माण हमारे अनुमान के द्वारा हो ही जायगा। ऐसा करने से कभी कभी वीभत्स असत्य को भी आश्रय मिल जाता है जिसका सब से जघन्य उदाहरण किन्हीं मिश्रजी का सन् १९१८ के मार्च महीने की सरस्वती में प्रकाशित "कवित्त रामायण में गोस्वामी तुलसीदास का आत्मचरित" शीर्षक लेख है, जिसमें

"मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।

× × × ×

जायो कुल-मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को॥"

आदि अवतरणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि 'तुलसीदास किसी पाप-कर्म की संतान थे।' इसलिये तुलसी-

दासजी के जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिये अन्य उद्‌गमों का ही सहारा लेना पड़ता है।

तुलसीदासजी का सबसे पहला वर्णन नाभादासजी के भक्त-माल में है। नाभादासजी गोसाईंजी के समकालीन थे। उन्होंने उनके लिये वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोस्वामी गिरिधरजी का वर्णन भी भक्त-माल में वर्तमानकालिक क्रिया में किया गया है—'श्री वल्लभजी के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।' विट्ठलनाथजी संवत् १६४२ में गोलोक-वासी हुए थे। इसी वर्ष में गिरिधरजी को श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती मिली होगी। इसलिये नाभाजी ने भक्तमाल को १६४२ के लगभग ही बनाया होगा। निस्संदेह इस समय तुलसीदासजी भी वर्तमान थे। उनकी मृत्यु सर्वसम्मति से संवत् १६८० में हुई और उनके जन्म के विषय में जितने भी मत हैं, सबके अनुसार उनका जन्म १६४२ से बहुत पहले हो गया था। प्रसिद्ध है कि नाभाजी तुलसीदासजी पर बड़ी श्रद्धा रखते थे और एक बार आदर भाव से उनके दर्शनों के लिये काशी भी आए थे। पर, ऐसी किंवदंती है कि, उस समय तुलसीदासजी पूजा कर रहे थे और उनसे न मिल सके। इस पर खिन्न होकर नाभादासजी चले गए। कहते हैं कि जब तुलसीदासजी को यह ज्ञात हुआ तब वे बड़े दुखी हुए और नाभादासजी से मिलने के लिये चल पड़े। जब तुलसीदासजी उनके स्थान पर पहुँचे उस समय वहाँ साधुओं का भंडारा हो रहा था। तुलसीदासजी साधुओं की पंक्ति के अंत में चुपचाप जाकर बैठ गए। यह बात ज्ञात होने पर भी नाभादासजी ने कुछ उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया। परोसते हुए जब वे तुलसीदासजी के पास पहुँचे तो पूछने लगे कि आपको किस पात्र में प्रसाद दूँ। तुलसीदासजी ने एक साधु की जूती उठाकर कहा कि इससे

पवित्र दूसरा पात्र हो नहीं सकता। इस पर नाभादासजी ने तुलसीदासजी को गले से लगा लिया और कहा कि आज मुझे भक्तमाल को सुमेर मिल गया। वे अवश्य तुलसीदासजी के संबंध में बहुत कुछ तथ्य की बातें जानते रहे होंगे; पर अभाग्यवश उनके वर्णन इतने संक्षेप से लिखे गए हैं कि उनमें प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं आ पाया है। प्रत्येक भक्त का वर्णन एक एक छप्पय में किया गया है। तुलसीदासजी के विषय में उन्होंने लिखा है—

"कलि कुटिल जीव-निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ॥
त्रेता काव्य निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन ॥
अब भक्तन सुखदेन बहुरि वपु धरि (लीला) विस्तारी।
रामचरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव-निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ॥"

इससे अधिक से अधिक यही पता चल सकता है कि तुलसीदास ने वाल्मीकि के समान समाज का कोई उपकार किया था अर्थात् रामायण रची थी जिससे वे कलिकाल के वाल्मीकि हुए; परंतु इससे तुलसीदासजी के विषय में हमारे ज्ञान की कुछ भी वृद्धि नहीं होती।

ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं नाभाजी को अपने वर्णनों की संक्षिप्तता खटकती थी। उनकी इच्छा थी कि कोई उनका विस्तार करे। उनके शिष्य बालक प्रियादास ने उनकी यह इच्छा अपनी गाँठ बाँधी और योग्य होने पर संवत् १७६९* में उसकी पूर्ति के लिये उस पर अपनी टीका लिखी—

---

* संवत् प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर,
फाल्गुन मास वदी सप्तमी बिताइ कै ॥
नारायनदास सुखरासि भक्तमाल लैके,
प्रियादास उर बसौ रहौ छाइ कै ॥

"नाभा जू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो

× × × ×

ताही समय नाभा जू ने आज्ञा दई, लई धारि,

टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइए।"

वास्तव में प्रियादास की टीका, टीका नहीं बल्कि भक्तमाल के भक्तों के चरित-विस्तार का प्रयास है। जो कुछ साधु संतों से उन्होंने सुना था उसी को अपनी टीका में लिखा है—

"मति अनुसार कह्यों लह्यो मुख संतन के।"

ग्यारह कवित्तों में प्रियादास ने तुलसीदास का चरित्र लिखा है। ये कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

"तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई

भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।

वधू अति लाज भई, रिस सों निकस गई—

'प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं' ॥

सुनी जग बात मानों ह्वै गयो प्रभात वह

पाछे पछिताय तजि काशीपुर धाए हैं।

कियो तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकास कीनो

लीनो दृढ़ भाव नैम रूप के तिसाए हैं ॥ ५०० ॥

शौच जल शेष पाइ भूत हू विशेष कोऊ

बोल्यो सुख मानि हनुमान जू बताए हैं।

'रामायन कथा सो रसायन है कानन को

आवत प्रथम, पाछे जात, घृणा छाए हैं ॥'

जाइ पहिचानि संग चले उर आनि आए

वन मध्य जानि धाइ पाइ लपटाए हैं।

करैं सीतकार, कही 'सकोगे न टारि मैं तो

जाने रस सार' रूप धरयो जैसे गाए हैं ॥ ५०१ ॥

'माँगि लीजे वर' कही—'दीजै राम भूप रूप
अतिही अनूप नित नैन अभिलाखिए'।
कियो लै संकेत वाहि दिन ही सौं लाग्यो हेत,
आई सोई-समै चेत कवि चाखिए॥
आए रघुनाथ साथ लछुमन चढ़े घोड़े
पर रंग बोरे हरे कैसे मन राखिए।
पाछे हनुमान आए, बोले 'देखे प्रान प्यारे'?
'नेकु न निहारे मैं तो' 'भले फेरि' भाखिए॥ ५०२॥
हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयो
कहै मुख 'राम' हत्या टारिए हत्यारे को।
सुनि अभिराम नाम धाम मैं बुलाइ लियो,
दिया लै प्रसाद कियो सुद्ध गायो प्यारे को॥
भई द्विज सभा, कहि बालिकै पठायो आप,
'कैसे गयो पाप? संग लै कै जैए न्यारे को!'
'पोथी तुम बाँचो हिए भाव नहिं साँचो अजू,
तातें मति काँची दूर ना करै अँध्यारे को'॥ ५०३॥
देखी पोथी बाँच नाम महिमा हू कही साँच
ए पै हत्या करै कैसे तरै कहि दीजिए।
आवै जो प्रतीति कही 'याके हाथ जेवैं' जब
शिव जू के बैल तब पंगति मैं लीजिए'॥
थार में प्रसाद दियो चले जहाँ पान कियो
बोले आप नाम के प्रसाद मति भीजिए।
जैसी तुम जानी तैसी कैसे कै बखानो अहो
सुनि कै प्रसन्न पायो जै जै धुनि रीझिए॥ ५०४॥
आए निसि चोर चोरी करन हरन धन
देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिए हैं।

जब जब आवैं बान साध डरपावैं ए तो
अति मँडरावैं ए पै बलि दूरि किए हैं ॥
भोर आय पूछे 'अजू साँवरो किसोर कौन'
सुनि कर मौन रहे आँसु डारि दिए हैं ।
दई सब लुटाइ जानि चौकी राम राइ दई
लई उन्ह शिक्षा सुद्ध भए हिए हैं ॥ २०५ ॥
कियो तनु विप्र त्याग लागी चली संग तिया
दूर ही तें देखि कियो चरन प्रनाम हैं ।
बोले यों 'सुहागवती' 'मर्‌यो पति होहुँ सति'
'अब तो निकसि गई जाहु सेवो राम हैं' ॥
बोलि कै कुटुंब कही 'जो पै भक्ति करो सही'
गही तब बात जीव दियो अभिराम है ।
भए सब साध व्याधि मेटी लै विमुख ताकी
जाकी बास रहैं तौन सूझै स्याम धाम हैं ॥ २०६ ॥
दिल्लीपति बादशाह अहिदी पठाए तैन
ताको सो सुनायो सूबै विप्र ज्यायो जानिए ।
देखिबे को चाहैं नीके मुख सो निबाहे आइ
कही बहु विनय गही चले मन आनिए ॥
पहुँचे नृपति पास आदर प्रकास कियो
दियो उच्च आसन लै बोल्यो मृदु बानिए ।
दीजै करामाति जग ख्यात सब मात किए,
कही झूठ बात, एक राम पहचानिए ॥ २०७ ॥
देखौं 'राम कैसे !' कहि कैद किए किए हिए—
'हूजिए कृपाल हनुमान जू दयाल हो' ।
ताही समै फैल गए कोटि कोटि कपि नए
नोचैं तन खैंचैं चीर भयो यों बिहाल हो ॥

फोरैं कोट मारैं चोट किए डारैं लोट पोट
लीजै कौन ओट गाइ मानों प्रलय काल हो।
भई तब आँखें दुख-सागर को चाखे अब
वेई हमैं राखें भाखें 'वारों धन माल हो' ॥ ५०८ ॥
आइ पाइ लिए तुम दिए हम प्रान आवैं
आप समझावैं करामाति। नैक लीजिए।
लाजि दबि गयो नृप तब राखि लियो कह्यौ
भयो घर रामजू को वेगि छाड़ि दीजिए ॥
सुनि तजि दियो और कह्यौ लैके कोट नयो
अब हूँ रहै कोऊ वामें तन छीजिए।
कासी जाइ वृंदावन आइ मिले नाभाजू सों
सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजिए ॥ ५०९ ॥
मदन गोपालजू को दरसन करि कही 'सही
राम इष्ट मेरे दृग भाव पागी है'।
वैसोई सरूप कियो दियो लै दिखाई रूप
मन अनुरूप छवि देख नीकी लागी है ॥
काहू कह्यो कृष्णअवतारी जू प्रशंस महा
राम अंश सुनि बोले मति अनुरागी है।
'दसरथ सुत जानों अनूप मानों
ईसता बताई रति कोटि गुनी जागी है' ॥ ५१०॥"

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक जो कुछ तुलसीदासजी के जीवन-चरित के विषय में लिखा जाता था वह विशेपकर प्रियादास की टीका में दिए हुए कथानकों अथवा जनश्रुतियों के आधार पर ही था। इन्हीं के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने 'भक्त-कल्पद्रुम' में, महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने 'भक्त-माल' में और महाराज रघुराज-सिंह ने 'राम-रसिकावली' में तुलसीदासजी का चरित्र लिखा।

पंडित रामगुलाम द्विवेदी, पंडित सुधाकर द्विवेदी और डाक्टर ग्रियर्सन तथा अन्य कई आधुनिक विद्वानों ने तुलसीदासजी के विषय में बहुत कुछ अनुसंधान की प्रवृत्ति दिखलाई। पंडित रामगुलामजी ने अपने सु-संपादित रामचरितमानस की भूमिका के रूप में तुलसीदासजी का जीवन-चरित लिखा था। सुधाकरजी और ग्रियर्सन साहब की खोजों का परिणाम समय समय पर इंडियन ऐंटिक्वेरी में निकलता रहा। मुंशी बैजनाथजी और पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने भी किंवदंतियों को एकत्र कर उनके जीवन-चरित की कुछ सामग्री प्रस्तुत की है।

परंतु इतने पर भी तुलसीदासजी के जीवनचरित के लिये कोई निश्चित आधार न मिला। संवत् १९६९ की ज्येष्ठ मास की 'मर्यादा' मासिक पत्रिका में बाबू इंद्रदेवनारायण ने तुलसीदासजी के एक बृहत्काय जीवनचरित की सूचना प्रकाशित की। यह महाकाव्य गोसाईंजी के शिष्य बाबा रघुबरदास का लिखा बताया गया था। इंद्रदेवनारायणजी ने इस ग्रंथ का परिचय यों दिया था—

"इस ग्रंथ का नाम 'तुलसीचरित' है। यह बड़ा ही वृहत् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा। इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—

चौ०—एक लाख तेंतीस हजारा। नौ सै बासठ छंद उदारा॥

यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवनचरित-विषयक मुख्य मुख्य वृत्तांत नित्य प्रति के लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुबरदासजी-विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह 'तुलसी-चरित' बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की बातों का विशेष परिज्ञान होता है।"

किंतु खेद है कि इस बृहत् ग्रंथ के एक लाख तेंतीस हजार नौ से बासठ उदार छंदों में से हमें केवल अवध-खंड के ४२ चौपाइयों और ११ दोहों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्हें स्वयं इंद्रदेवनारायणजी ने उक्त लेख में दे दिया है। ये दोहे-चौपाइयाँ इस पुस्तक के पहले परिशिष्ट में दी गई हैं। शेष 'उदार' छंदों को जगत् के सामने रखने की उदारता उन्होंने नहीं दिखाई है। उक्त ग्रंथ को भी स्वयं इंद्रदेवनारायणजी के अतिरिक्त और किसी लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक ने नहीं देखा है। संभवतः वे उसकी जाँच कराना पसंद नहीं करते। उस विषय के पत्रालाप से भी उन्हें आना-कानी है। इसलिये यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह ग्रंथ कहाँ तक प्रामाणिक है। इस ग्रंथ के जो छंद छप चुके हैं, उनमें तुलसीदासजी के जीवन की जो घटनाएँ दी हुई हैं वे आज तक के विचारों में बहुत उलट फेर उपस्थित करती हैं। इंद्रदेव-नारायणजी के प्रांतीय स्वजन लाला शिवनंदनसहाय ने इस ग्रंथ की प्राप्ति के विषय में जो कुछ लिखा है वह मन में संदेह उत्पन्न करता है। वे लिखते हैं—

'हमें ज्ञात हुआ है कि केसरिया (चंपारन)-निवासी बाबू इंद्रदेवनारायण को गोसाईंजी के किसी चेले की, एक लाख दोहे-चौपाइयों में लिखी हुई, गोसाईंजी की जीवनी प्राप्त हुई है। सुनते हैं, गोसाईंजी ने पहले उसके प्रचार न होने का शाप दिया था; किंतु लोगों के अनुनय-विनय से शाप-मोचन का समय संवत् १९६७ निर्धारित कर दिया। तब उसकी रक्षा का भार उसी प्रेत को सौंपा गया जिसने गोसाईंजी को श्रीहनुमानजी से मिलने का उपाय बताकर श्रीरामचंद्रजी के दर्शन का उपाय बताया था। वह पुस्तक भूटान के किसी ब्राह्मण के घर पड़ी रही। एक मुंशीजी उसके बालकों के शिक्षक थे। बालकों से उस पुस्तक का पता पाकर उन्होंने उसकी पूरी नकल कर डाली। इस गुरुतर अपराध से क्रोधित हो वह ब्राह्मण उनके वध के निमित्त उद्यत

हुआ तो मुंशीजी वहाँ से चंपत हो गए। वही पुस्तक किसी प्रकार अलवर पहुँची और फिर पूर्वोक्त बाबू साहब के हाथ लगी। क्या हम अपने स्वजातीय इन मुंशीजी की चतुराई और बहादुरी की प्रशंसा न करेंगे? उन्होंने सारी पुस्तक नकल कर ली, तब तक ब्राह्मण देवता के कानों तक खबर न पहुँची, और जब भागे तो अपने बोरिए-बस्ते के साथ उस बृहत्काय ग्रंथ को भी लेते हुए। इसके साथ ही क्या अपने दूसरे भाई को यह अश्रुतपूर्व और अलभ्य पुस्तक हस्तगत करने पर बधाई न देनी चाहिए? पर प्रेत ने उसकी कैसे रक्षा की और वह उस ब्राह्मण के घर कैसे पहुँची? यह कुछ हमारे संवाद-दाता ने हमें नहीं बताया। जो हो, जिस प्रेत की बदौलत सब कुछ हुआ, उसके साथ गोसाईंजी ने यथोचित प्रत्युपकार नहीं किया। बनखंडी तथा केशवदास के समान उसके उद्धार का उपयोग तो भला करते, उलटे उसके माथे ३०० वर्ष तक अपनी जीवनी की रक्षा का भार डाल दिया!"

अभी थोड़े दिन हुए, गोसाईंजी के एक और शिष्य बाबा बेणी-माधवदास का लिखा एक ग्रंथ मिला है जिसकी जाँच होने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं है। इस ग्रंथ का नाम 'मूल गोसाईं-चरित' है। इसको जनता के समक्ष प्रकाशित करके उन्नाव के वकील पंडित रामकिशोर शुक्ल, तुलसी-प्रेमियों के हार्दिक धन्यवाद के भाजन हुए हैं। वकील साहब ने इसे अपने संपादित रामचरितमानस के आरंभ में दिया है, जो नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ है। मूल गोसाईं-चरित में रचना-काल और ग्रंथोद्देश्य यों दिया है—

"सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
बिरचा यहि निज पाठ हित बेणीमाधवदास॥"

पंडित रामकिशोर शुक्ल को बेणीमाधवदास की प्रति कनक-भवन अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायकजी से प्राप्त हुई थी। महात्माजी की कृपा से उनकी प्रति को देखने का हमें भी सौभाग्य मिला है। जिस प्रति से यह प्रति लिखी गई थी वह मौजा मरुव,

पोस्ट श्रोवरा, जिला गया के पंडित रामाधारी पांडेय के पास है। पांडेयजी ने लिखा है कि यह प्रति उनके पिता को गोरखपुर में किसी से प्राप्त हुई थी। तब से वह उनके यहाँ है और नित्यप्रति उसका पाठ होता है। पांडेयजी इस प्रति को पूजा में रखते हैं, इससे वह बाहर तो नहीं जा सकती; परंतु यदि कोई उसे वहाँ जाकर देखना और जाँचना चाहे तो ऐसा कर सकता है।

जाँच कराने से ज्ञात हुआ है कि यह प्रति पुराने देशी कागज पर देवनागरी अक्षरों में लिखी है। इसमें ६$\frac{1}{2}$ × ५$\frac{1}{3}$" के आकार के ५४ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ हैं। ग्रंथ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह प्रति संवत् १८४८ की विजयादशमी को समाप्त हुई थी। इसे किसी पंडित रामरक्षामणि और उनके पुत्र रमादास ने लिखा था।

बाबा वेणीमाधवदास पसका गाँव के रहनेवाले थे। उन्होंने 'गोसाईं-चरित' नाम से गोसाईंजी का एक महत् जीवनचरित पद्य-बद्ध करके लिखा था, जो अब कहीं नहीं मिलता। मूल गोसाईं-चरित इसी बड़े चरित का संक्षिप्त संस्करण जान पड़ता है। इसे वेणीमाधवदास ने नित्य पाठ के लिये रचा था। गोसाईं-चरित का सबसे पहला उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंहसरोज' में किया था। उन्होंने स्वयं इसे देखा था। पर इस 'देखने' में ध्यानपूर्वक पढ़ना भी सम्मिलित है; इसमें हमें संदेह है; क्योंकि गोसाईंजी के जन्म का ही संवत्, जो शिवसिंह ने दिया है वह, बाबा वेणीमाधव-दास के मूल गोसाईं-चरित से नहीं मिलता। परंतु यह भूल अन्य कई कारणों से भी हो सकती है।

मूल गोसाईं-चरित से इस बात का संकेत मिलता है कि गोसाईंजी से वेणीमाधवदास की पहली भेंट संवत् १६०६ और १६१६ के बीच में हुई थी। संभवतः इसी समय वे उनके शिष्य

भी हुए हों। गोसाईंजी की मृत्यु सर्वसम्मति से संवत् १६८० में हुई। जिस व्यक्ति का अपने चरितनायक से ६४-७० वर्ष का दीर्घकालीन संपर्क रहा हो उसके लिखे जीवनचरित की प्रामाणिकता विषय में संदेह के लिये बहुत कम अवकाश हो सकता है। यदि यह मूल चरित प्रामाणिक न हो तो आश्चर्य की बात होगी।

गोसाईं-चरित में तुलसीदासजी के जीवन की जितनी तिथियाँ दी गई हैं सब गणित के अनुसार ठीक उतरती हैं। जिन तिथियों की प्रामाणिकता के संबंध में नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ७, पृ० ३९५—९८ और ४०१—०२ में संदेह प्रकट किया गया था, वे भी पंडित गोरेलाल तिवारी की गणना के अनुसार ठीक उतरती हैं। (ना० प्र० प०, भाग ८, पृ० ६०-६९)। तिथियों पर यथास्थान विचार किया जायगा। गोसाईंजी ने अपने विषय में विनयपत्रिका, कवितावली, हनुमानबाहुक आदि ग्रंथों में जो जो बातें लिखी हैं, मूल चरित में दी हुई घटनाओं से उनकी भी संगति ठीक बैठ जाती है।

इसमें संदेह नहीं कि गोसाईं-चरित में बहुत सी बातें अलौकिक और असंभव हैं। महात्माओं के विषय में कई अलौकिक और चमत्कारी बातें सहज ही फैल जाया करती हैं और गुरु की महिमा को बढ़ाने के लिये शिष्य-समुदाय उन पर बहुत शीघ्र विश्वास कर बैठता है। इस वैज्ञानिक युग के शिष्यों तक में यह बात पाई जाती है। फिर सत्रहवीं शताब्दी के परम श्रद्धा-शील गुरुभक्त बाबा वेणी-माधवदास में, जो अपने गुरु के चरित्र का नित्य पाठ करना स्वाध्याय का आवश्यक अंग समझते थे, इस बात का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि इन अस्वाभाविक और अलौकिक बातों के कारण हम उन्हें झूठा ठहरा दें तो यह हमारी विवेक-शून्यता का परिचय देना ही कहा जायगा। वास्तव में मूल गोसाईं-चरित से

हमें तुलसीदासजी के चरित के लिये दृढ़ आधार मिलता है। मूल चरित की पूरी प्रतिलिपि, जो पंडित रामाधारी पांडेय की नकल है, इस पुस्तक के दूसरे परिशिष्ट में दी जाती है।

तुलसीदासजी के जीवन की जो कुछ सामग्री आज तक उपलब्ध उसका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। इसी के आधार पर के जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा, जिसका प्रयत्न आगे के ओं में किया जाता है।

---

(३) जन्म

यमुना के तट पर राजापुर नाम का एक बड़ा गाँव है। यह गाँव बाँदा जिले की मऊ तहसील में बसा हुआ है। जी० आई० पी० रेलवे लाइन से वहाँ के लिये जाना होता है। करवी स्टेशन से राजापुर तक १९ मील लंबी एक अच्छी कच्ची सड़क चली गई है। यह गाँव खूब समृद्ध है और एक खासा अच्छा नगर सा लगता है। राजापुर का अपना अलग डाकघर भी है। यहाँ एक मकान है जिस पर लगी हुई संगमरमर की तख्ती बताती है कि उसमें और मकानों से कुछ विशेषता है। इस मकान के साथ बहुत पुरानी स्मृतियाँ लगी हुई हैं, जिनके कारण प्रत्येक गुणग्राही, प्रत्येक हिंदू और प्रत्येक हिंदीभाषी के हृदय में उसे देखते ही उल्लास की तरंग-मालाएँ उठने लगती हैं। यह मकान तुलसीदासजी की कुटी के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं, शील और संतोष की मूर्ति, हिंदुत्व के संरक्षक और हिंदी के गौरव गोसाईं तुलसीदासजी इसी कुटी में रहते थे। उन्हीं की स्मृति-रक्षा के लिये राज्य की ओर से इस कुटी पर संगमरमर की तख्ती लगाई गई है। चौधरी ब्रजलाल, जिनके अधिकार में आजकल यह मकान है, गोसाईंजी के शिष्य गणपतिजी के उत्तराधिकारी कहे जाते हैं। इसी कुटी के कारण आज इस गाँव का इतना महत्त्व है। बहुत से लोग राजापुर के इस महत्त्व को छीनकर और स्थानों को देना चाहते हैं। बाबू शिवनंदनसहाय के मत से तारी तुलसीदासजी का जन्मस्थान है। कोई हस्तिनापुर और कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर को उनका जन्मस्थान समझते हैं; परंतु इनके पक्ष में कोई ऐसे प्रमाण नहीं मिलते कि ये राजापुर के महत्त्व को अपना सकें।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में भी यह गाँव बहुत समृद्ध था। वह छोटा-मोटा पुर ही था। 'मूल गोसाईं'-चरित से पता चलता है कि वहाँ सभी जातियों के लोग सुख-संतोष और सौहार्द के साथ रहते थे। परंतु यहाँ के प्रमुख निवासी दूबे थे। इसलिये यह 'दूबों का पुरवा' कहलाता था। इसी गाँव में तुलसीदासजी के पिता रहते थे। वे धर्मात्मा, पुण्य-परायण और विद्वान् थे तथा तीखनपुर के राजा के गुरु थे। जनश्रुति के अनुसार इनका नाम आत्माराम दूबे था। तुलसी-चरित में उनका नाम मुरारि मिश्र लिखा है। उसी चरित के अनुसार इनके पुरुषा कसया गाँव से आकर यहाँ बसे थे। सरयू नदी के उत्तर का भाग सरयूपार या सरवार कहलाता है। वहाँ उस समय मझौली नाम का एक छोटा राज्य था। मझौली राजधानी का भी यही नाम है। यहाँ से तेईस मील की दूरी पर कसया ग्राम बसा था। आजकल इस गाँव की स्थिति कहाँ और कैसी है यह नहीं कहा जा सकता। क्या यह बौद्ध इतिहास में प्रसिद्ध कुसीनगर ही तो नहीं है? यहीं मुरारि मिश्र के पितामह परशुराम मिश्र रहते थे। परशुराम गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेश का भाग पाते थे। पर उन दिनों वहाँ बौद्ध और जैन धर्मों का भी कुछ प्रचार था जिससे परशुराम को परिताप होता था। तिरसठ वर्ष की अवस्था तक जब इनके कोई संतान नहीं हुई तब संसार इन्हें स्वप्न के समान लगने लगा। पुत्र की कामना से ये अपनी स्त्री को साथ लेकर तीर्थाटन करने निकले और घूमते-घामते चित्रकूट पहुँचे। वहाँ स्वप्न में हनुमानजी ने दर्शन दिए और आज्ञा दी कि राजापुर जाकर निवास करो, वहाँ तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक मुनिराज का जन्म होगा। इससे इन्हें संतोष हुआ। अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए ये सीतापुर पहुँचे जिसके पास ही नैमिषारण्य तीर्थ है। तीखन-

पुर के राजा, जिनके राज्य में राजापुर गाँव बसा हुआ था, उन दिनों वहाँ आए हुए थे। परशुराम उनसे मिले और अपने स्वप्न का सारा वृत्तांत सुनाकर उनसे राजापुर में रहने की इच्छा प्रकट की। राजा गुणज्ञ थे। उन्होंने देखा कि परशुराम सब शास्त्र और दर्शनों में पारंगत हैं। इसलिये वे उन्हें अपने साथ तीखनपुर ले आए और उन्होंने राजापुर में उनके रहने का सब प्रबंध बड़े सम्मान के साथ कर दिया। वहाँ परशुराम मिश्र ने शिव-शक्ति की शुद्ध उपासना चलाई। कैलासवासी महादेव के उन्हें साक्षात् दर्शन हुए। राजापुर में उन्हें एक पुत्र-रत्न का लाभ हुआ जो शंकर मिश्र कहलाया। अत्यंत वृद्ध हो जाने पर शिवभक्त परशुराम अपना पुत्र राजा को सौंपकर मोक्षदा पुरी काशी चले आए और वहाँ परमगति को प्राप्त हुए।

शंकर मिश्र भी बड़े प्रसिद्ध पंडित हुए। उन्हें वाणी सिद्ध थी। राजा-रानी और राज्य के सब कर्मचारी उनके शिष्य हो गए। उनके दो व्याह हुए। पहली पत्नी के मर जाने पर उन्होंने अपनी छोटी साली के साथ विवाह किया। पहली स्त्री से दो लड़के और दो लड़कियाँ हुईं। तुलसीदासजी की शाखा दूसरी स्त्री से चली है जिससे संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र दो पुत्र उत्पन्न हुए। अपनी विद्या-बुद्धि से उन्हें खूब धन-धरणी का लाभ हुआ। रुद्रनाथ के चार पुत्र हुए। सबसे जेठे का नाम मुरारि मिश्र था। यही गोसाईं तुलसीदास के पिता थे। गोसाईंजी के तीन भाई और दो बहनें थीं। एक भाई उनसे छोटा था और दो बड़े। सबसे बड़े भाई का नाम गणपति था, दूसरे का महेश और सबसे छोटे का मंगल। इनकी बहनों का नाम वाणी और विद्या था। वे उच्च कुलों में व्याही गईं।

यह वंश-परंपरा तुलसी-चरित में दी हुई है। पर इसका समर्थन और कहीं से नहीं होता। यह ग्रंथ भी आलोचकों की दृष्टि

से बचाकर रखा हुआ है। इसलिये खेद है कि हम इस परंपरा को मानकर नहीं चल सकते। मूल गोसाईं-चरित में गोसाईंजी की वंशावली इतने विस्तार से नहीं दी गई है जितने विस्तार से तुलसी-चरित में दी हुई है। संक्षिप्त चरित होने के कारण यह दी भी नहीं जा सकती थी; परंतु जो कुछ इस विषय में उसमें लिखा है वह इसके विरुद्ध ही पड़ता है। वेणीमाधवदास ने गोसाईंजी के पुरखों का कसया में नहीं, पत्योंजा में रहना कहा है और उनके कुल का अल्ल भुरखे बतलाया है—

'शुभ थान पतेजि रहे पुरखे। तेहि ते कुल नाम पड़्यो भुरखे ॥'

यद्यपि वेणीमाधवदास ने कहीं भी तुलसीदासजी को दूबे नहीं कहा है; फिर भी पत्योजा से उनकी वंश-परंपरा को आरंभ करना उन्हें दूबे कहने के ही बराबर है। काष्ठजिह्वा स्वामी ने भी कहा है—'तुलसी पराशर गोत दूबे पतिऔजा के'। संभव है, बड़े ग्रंथ में—जिसका 'मूल चरित' संक्षेप है—उनको स्पष्ट दूबे लिखा हो। परंतु मिश्र-बंधुओं की जाँच-पड़ताल से ज्ञात होता है कि बाँदा जिला और राजापुर के इर्द-गिर्द कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है, सरवरियों की नहीं। सरवरियों की भी उधर कमी नहीं है; पर वे द्विवेदी नहीं हैं। राजा प्रतापसिंह ने उन्हें इसी लिये कदाचित् कान्यकुब्ज लिखा है। इसी आधार पर मिश्र-बंधुओं को भी राजा प्रतापसिंह का समर्थन करना पड़ा है। पर गोसाईंजी राजापुर में भी सरवरिया ही प्रसिद्ध हैं। वेणीमाधवदास के लेख से राजापुर में सरवरिया द्विवेदियों के अभाव का कारण उनके वंश का नष्ट होना पाया जाता है। तुलसीदासजी के जन्म लेने के छः मास के भीतर उनके पिता मर गए और दस वर्ष के भीतर उनके वंश ही का नाश हो गया था। अतएव उन्हें द्विवेदी मानने में कोई अड़चन नहीं रह जाती।

जो लोग उनके 'जायो मंगन कुल' कहने से उनको सचमुच भिखमंगे की संतान कह डालते हैं, वे उन्हीं के 'दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को' वाक्य से भी कुछ परिणाम निकालते हैं या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। 'सुकुल' से यहाँ 'शुक्ल' जाति नहीं, केवल अच्छे, उच्च कुल से अभिप्राय है।

और जो कुछ हो, इस बात में तो कुछ भी संदेह नहीं कि तुलसीदासजी सरयूपारी थे। वेणीमाधवदास और रघुवरदास दोनों ने उन्हें सरयूपारी कहा है। गोसाईंजी ने अपने ग्रंथों में सरवार की रीति-नीति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। सरवार के 'दही-चिउड़ा' तक को वे नहीं भूले हैं। सरवार में दही-चिउड़े की बड़ी चाल है। यह संबल का भी काम देता है और रिश्तेदारों में भी बाँटा जाता है। गोसाईंजी ने बरातियों के लिये जनक के यहाँ से याद करके दही-चिउड़ा भिजवा दिया है। भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदासजी सरयूपारी ही ठहरते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथों में सरयू-पार की शुद्ध अवधी भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा साहित्यिक होने पर भी अस्वाभाविक नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि उनको सरवार की बोली का व्यावहारिक अभ्यास था। यदि यह बात न होती तो अवश्य ही उनकी बोली में पछँहियाँपन आ जाता; क्योंकि राजापुर के आसपास की बोली यद्यपि है अवधी ही; परंतु उसमें बहुत पछँहियाँपन है। कुलीन घराने के लोगों का अपने मूल-स्थान की रीति-भाँति और बोल-चाल की रक्षा करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही है।

इन सब बातों पर एक साथ विचार करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि तुलसीदासजी सरयूपारी और संभवतः द्विवेदी थे।

ऊपर कह चुके हैं कि जनश्रुति के अनुसार तुलसीदासजी के पिता का नाम आत्माराम द्विवेदी था। वेणीमाधवदास ने उनके

पिता का उल्लेख तो किया है; पर कोई नाम नहीं लिखा है। तुलसीदास की माता का नाम उन्होंने 'हुलसी' दिया है। जनश्रुति भी उनकी माता को हुलसी के ही नाम से जानती है। अब्दुर्रहीम खानखाना तुलसीदासजी के प्रेमियों में से थे। कहते हैं, एक वार तुलसीदासजी ने दोहे का एक चरण बनाकर उनके पास भेजा—

'सुर-तिय नर-तिय नाग-तिय सब चाहत अस होय।'

खानखाना ने दोहे को यों पूर्ण करके लौटा दिया—

'गोद लिए हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥'

इसमें तुलसीदासजी की माता के नाम का संकेत होने के कारण श्लेषपुष्ट मुद्रालंकार माना जाता है। राम-कथा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए स्वयं तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में एक स्थल पर 'हुलसी' शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं—

'रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।'

यहाँ हुलसी से तुलसीदास की माता ही समझने से अर्थ की संगति बैठती है।

तुलसीदासजी की जन्मतिथि के विषय में कई मत प्रचलित हैं। रामायण-रसिक पंडित रामगुलाम शर्मा ने उनका जन्म संवत् १५८९ दिया है। शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में लिखा है कि वे १५८३ में उत्पन्न हुए थे। डा० ग्रिअर्सन ने पंडित रामगुलाम शर्मा का समर्थन किया है। अब तक बहुमत भी उन्हीं का अनुसरण करता था। परंतु अब परिस्थिति बदल गई है। वेणीमाधवदास ने इस विषय में लिखा है—

'जब कर्क में जीव हिमांशु चरें॥
कुज सप्तम अष्टम भानु तनै। अभिहित सुठि सुंदर सांझ समैं॥
पंद्रह सै चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर॥'

अर्थात् विक्रम संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी को संध्या समय तुलसीदासजी ने जन्म लिया। उस समय कर्क के बृहस्पति और चंद्रमा, सप्तम मंगल और अष्टम शनि थे। संवत् १५५४ में दो श्रावण मास पड़े थे; अधिक श्रावण मास से अभिप्राय होता तो यह बात स्पष्ट लिखी जाती। अतएव शुद्ध श्रावण मास ही समझना चाहिए। वार न दिए होने से इस तिथि की विशेष जाँच नहीं की जा सकती। बिलासपुर-निवासी पंडित गोरेलाल तिवारी के अनुसार उस दिन शनिवार था और अँगरेजी तारीख ५ अगस्त १४९७ थी।

गोसाईंजी की शिष्य-परंपरा में संवत् १५५४ ही उनका जन्म-संवत् माना जाता था। अपने 'मर्यादा'-वाले लेख में, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, बाबू इंद्रदेवनारायण लिखते हैं—"श्रीगोस्वामी की शिष्य-परंपरा की चौथी पुश्त में काशी-निवासी विद्वद्वर श्री शिवलालजी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर संस्कृत भाष्य तथा व्याकरणादि विषयों पर भी अनेक ग्रंथ निर्माण किए हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानस-मयंक नामक तिलक रचा है। उसमें लिखा है—

दोहा—"मन (४) [०] ऊपर शर (५) जानिए, शर (५) पर दीन्हे एक (१)। तुलसी प्रगटे रामवत राम जन्म की टेक॥"

इससे भी गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ ही निकलता है। बाबा रघुवरदास के तुलसी-चरित के यत्किंचित् परिचय के साथ साथ उक्त बाबू साहब ने शिवलालजी के दोहे को उद्धृत किया है। रघुवरदास ने इस विषय में क्या लिखा है वह तो साफ साफ उन्होंने नहीं बताया है, फिर भी उस लेख से अनुमान यही होता है कि संभवतः रघुवरदास के मत से भी यही संवत् उनका जन्म-संवत् माना गया हो।

परंतु प्रत्येक बात में श्री शिवलालजी भी वेणीमाधवदास से सहमत नहीं हैं; क्योंकि वे मानते हैं कि तुलसीदासजी ने अपने जन्म में रामजन्म की टेक का निर्वाह किया। तुलसीदासजी ने रामजन्म के तिथि-नक्षत्र यों दिए हैं—

'नवमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥'

वेणीमाधव के अनुसार न नवमी सुदी ठहरती है, न फाल्गुन मास और न अभिजित नक्षत्र। किसी भी तरह रामजन्म की टेक का निर्वाह नहीं होता। हाँ, अयोध्या के महात्मा बालकरामजी की प्रति में 'अभिहित सुठि साँझ समै' का 'अभिजित शनि साँझ समै' करके उसका निर्वाह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। परंतु इस पाठ को मानने का हमें कोई कारण नहीं देख पड़ता। मूल शुद्ध पाठ 'अभिहित सुठि साँझ समय' ही है। पंडित गोरेलालजी ने यह नहीं बताया कि उस दिन अभिजित नक्षत्र पड़ता है या नहीं। परंतु राम-जन्म की टेक की रक्षा न होने से वेणीमाधवदास के कथन की अकृत्रिमता ही सिद्ध होती है। शिवलालजी के कथन में सांप्रदायिकता देख पड़ती है। इसलिये वेणीमाधवदास की दी हुई जन्मतिथि ही ठीक जान पड़ती है।

यह बात अवश्य है कि १५५४ को गोसाईंजी का जन्म-संवत् मानने से उनकी १२६ वर्ष की लंबी आयु हो जाती है, जिस पर बहुत से लोगों की विश्वास करने की प्रवृत्ति न होगी। परंतु आजकल भी समाचारपत्रों में डेढ़ डेढ़ सौ वर्ष की अवस्थावालों के समाचार छपते ही रहते हैं। तब एक संयमी योगी महापुरुष की १२६ वर्ष की आयु पर क्यों अविश्वास किया जाय?

---

(४) शैशव, दीक्षा और शिक्षा

तुलसीदासजी के चमत्कारपूर्ण जीवन का आरंभ आश्चर्य-स्फीत वातावरण में अवगुंठित है; परंतु साथ ही विषादपूर्ण भी है। बारह मास तक वे माता के गर्भ में रहे और जब उत्पन्न हुए तब पाँच वर्ष के से बालक लगते थे। पेट ही से उनके बतीसों दाँत उग आए थे। शिशु जन्मते ही रोता है; पर यह आश्चर्य-जनक शिशु रोया नहीं, उसके मुँह से जन्मते ही जो ध्वनि निकली उसमें सूतिका-गृह की परिचारिकाओं ने स्पष्ट 'राम' शब्द सुना। तब यदि उसके पिता को उसके उत्पन्न होने का समाचार सुनाते हुए दासी ने कहा कि 'मैं बूढ़ी हो गई हूँ; परंतु अपने जीवन भर में मैंने ऐसा शिशु नहीं देखा' तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्त्रियाँ उसको देखकर डर के मारे काँपने लगीं। उन्होंने समझा कि कोई राक्षस उत्पन्न हुआ है।

पिता को भी यह समाचार सुनकर बड़ा परिताप हुआ। उन्होंने सोचा कि यह मेरे पूर्व जन्म के पापों का फल है। बाल्य-काल के उन थोड़े से वर्षों में, जब बच्चे को माता पिता के दुलार की बड़ी आवश्यकता रहती है, तुलसीदास को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं उनमें हम उनके पिता के इस विचार को प्रतिफलित हुआ देखते हैं। बालक को भी इस बात का अनुभव हुआ और वह अपने पिता के इस भाव को जन्म भर न भूला। कवितावली में के 'जायो कुल-मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को' कहने से तुलसीदास का क्या अभिप्राय था, यह बेणीमाधवदास के मूल चरित में दिए हुए गोसाईंजी के जन्म के इस वर्णन से भली भाँति समझ में आ जाता है।

वालक के जन्म लेने का समाचार सुनकर हित-मित्र, वंधु-वांधव सब राजगुरु के घर पर एकत्र हुए। ज्योतिषीजी भी बुलाए गए। सब यही सोच रहे थे कि इस अशकुनी वालक का क्या किया जाय। इन लोगों का यह विचार था कि यह वालक ज़िएगा नहीं। अंत में यह निर्णय हुआ कि यदि तीन दिन के अनंतर भी वालक जीता रहा तो उसके ब्राह्मणोचित लौकिक वैदिक संस्कार किए जायँ, अन्यथा वे अनावश्यक हैं।

हुलसी को इस निर्णय से संतोष नहीं हुआ। उसको इन लोगों के हाथ से अपने वालक के अनिष्ट की आशंका थी। इसी वीच में वह वहुत वीमार भी पड़ गई। उसने अपने जीवन की आशा छोड़ दी। उसकी आशंका ने अव और भी जोर पकड़ा। उसने सोचा कि ये निष्ठुर लोग मेरी मृत्यु के पीछे अवश्य मेरे वालक को फेंक देंगे। इसलिये उसने अपनी मुनियाँ नाम की दासी को वुलाकर उसे अपने गहने दिए और वालक को सौंपकर कहा—"तू चुपके से इसे अपनी सास के पास हरिपुर ले जा और वहाँ अच्छी तरह से इसका पालन-पोषण कर।" वालक के जन्म के पाँचवें दिन उसकी माता का स्वर्गवास हो गया।

दासी नवजात शिशु को लेकर रातोंरात हरिपुर पहुँची। उसकी सास चुनियाँ दयालु स्त्री थी। उसने कहा—"तूने अच्छा किया जो इसे ले आई। हमारे घर में कलोर गाय व्याई है। यह उसका दूध पीकर अवश्य जी जायगा।" चुनियाँ वड़े प्रेम से शिशु का पालन करने लगी। वह उसे प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करती। जो कुछ वह माँगता वह उसे वही ला देती। परंतु यहाँ भी शिशु के अभाग्य ने उसका पीछा न छोड़ा। चुनियाँ की प्रेम-पूर्ण रक्षा में रहते अभी उसे पाँच वर्ष और पाँच मास ही हुए थे कि चुनियाँ साँप के डसने से मर गई। तव राजगुरु के घर कहलाया गया कि

आप अपना पुत्र ले जाइए। परंतु उन्होंने अपने पुत्र की सँभाल नहीं की। हुलसी और चुनियाँ की मृत्यु ने उनके अंधविश्वास को और भी पुष्ट कर दिया। वे बोले—"जो कोई उसका पालन करता है, उसी का नाश हो जाता है। हम ऐसे बालक को लेकर क्या करेंगे? ऐसे अभागे अपशकुनी की मरने-जीने की चिंता ही क्या?" यह घटना भी आगे चलकर तुलसीदास के वैराग्योदय में सहायक हुई। इस निस्सहायावस्था ने उनको राम के साहाय्य का मूल्य बताया। अपनी निस्सहायावस्था को राम के सामने प्रकट करते हुए तुलसीदासजी ने अपने त्यक्त होने की बात स्थल स्थल पर कही है। कवितावली में वे लिखते हैं—

'मातु पिता जग जाइ तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।'

माता उन्हें छोड़कर स्वर्ग चली गई और पिता ने उनकी सँभाल भी नहीं की।

एक और स्थान पर वे कहते हैं—

'स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक, औचक उलटि न हेरो।'

विनय-पत्रिका में भी उन्होंने कहा है—

'जननि जनक तज्यो जनमि करम बिनु विधि सिरज्यो अवडेरो।'

वे पुनः कहते हैं—

'द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
ह्वै दयाल दुनी दसौ दिशा दुखदोष दलन छमि कियो न संभासन काहू।
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात पिता हूँ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत सब छुइ छाँहू।'

तुलसीदासजी के इन कथनों की संगति मिलाने के लिये पंडित सुधाकर द्विवेदी ने अनुमान किया है कि वे अभुक्त मूल में उत्पन्न हुए थे। इसलिये उनके पिता ने उनको त्याग दिया था। डा० ग्रिअर्सन ने सुधाकरजी का अनुगमन किया; परंतु वास्तव में सुधाकरजी

का अनुमान केवल अनुमान ही है। मूल में जन्मे बालक सर्वथा अनाथ नहीं छोड़ दिए जाया करते थे। ऐसे बालकों की मूल-शांति और गोमुख-प्रसव-शांति का उपाय शास्त्रों में लिखा है। वास्तविक बात, जैसा कि वेणीमाधवदास के ग्रंथ से प्रकट है, यह थी कि तुलसीदास के पिता के मन में यह भय समा गया था कि यह बालक अपशकुनी है। आगे आनेवाली घटनाओं ने उनके भय को और भी पुष्ट किया। बालक के साथ उनका कुछ समय तक भी संसर्ग नहीं हुआ था, जिससे वात्सल्य भाव जागरित होता। यदि जन्मते ही तुलसीदास अपनी माता की इच्छा से हरिपुर न भेज दिए गए होते तो संभवतः उनके पिता के किए उनका त्याग न हो सकता।

तुलसी-चरित में तुलसीदास के ऐसे असाधारण रूप में उत्पन्न होने का वर्णन नहीं है। इसलिये वहाँ त्याग की भी बात नहीं उठ सकती थी। उसमें बहुत समय तक तुलसीदास का अपने पिता के साथ रहना पाया जाता है। परंतु स्वयं तुलसीदासजी के वचनों से इसका विरोध होता है। इसलिये यह मान्य नहीं है।

पिता के द्वारा इस प्रकार त्याग दिए जाने पर बालक तुलसीदास लोगों के दरवाजे दरवाजे डोलता फिरा। जब स्वयं पिता ही मृत्यु के भय से अपने पुत्र की रक्षा करने को उद्यत नहीं था तब और किसी से क्या आशा की जा सकती थी? दो वर्ष तक यही दशा रही। इसके अनंतर एक दिन भाग्यवश स्वामी नरहर्यानंदजी हरिपुर पधारे। उस बालक को देखकर उन्हें दया आ गई और वे उसे अपने साथ अयोध्या लेते गए। परंतु परम गुरुभक्त श्रद्धालु वेणीमाधवदास यों सीधी तरह से बात कहनेवाले नहीं हैं; क्योंकि इससे गुरु का मान घटता है। इसलिये जगज्जननी पार्वती को ब्राह्मणी का रूप धरकर दो वर्ष तक प्रतिदिन इस बालक को खिलाने-पिलाने के लिये आना पड़ा। लोग हैरान थे कि यह स्त्री है कौन। सब हार गए, पर

कोई उसका पता न पा सका। एक स्त्री इस टोह में लगी रही। एक दिन उसने ब्राह्मणी-पार्वती के पाँव पकड़ ही लिए और उसे जाने न दिया। पार्वती को अंतर्धान होना पड़ा। फिर वह नहीं आई। परंतु पार्वती का प्रेम देखकर अब शिवजी को चिंता हुई। नरहर्यानंदजी उन्हीं की प्रेरणा से हरिपुर आए और लोगों की अनुमति से बालक तुलसी को अपने साथ ले गए।

नरहर्यानंदजी ने इस बालक के पंच-संस्कार किए। नामकरण भी पंच संस्कारों के अंतर्गत आता है। तुलसी-चरित में दी हुई कथा के अनुकूल इनका नामकरण घर ही पर हुआ था और इनका नाम तुलाराम था। इनके कुलगुरु तुलसीराम ने अत्यंत स्नेह के कारण इनका नाम तुलसी भी रख दिया था। इनका नाम तुलसीदास था, इसमें तो संदेह का स्थान ही नहीं; परंतु मूल गोसाईं-चरित के अनुसार रामबोला भी इनका एक नाम था। नरहर्यानंदजी ने हरिपुर में रामबोला कहकर ही बालक तुलसी का प्रबोधन किया था। केवल यहीं पर 'रामबोला' नाम का प्रयोग हुआ है। यह 'पंच-संस्कार' के पहले की बात है। इसके पीछे मूल चरित में उनके लिये नाम का प्रयोग बहुत दूर जाकर होता है, जब कि वे काशी से शिक्षा प्राप्त कर घर लौट आते हैं। इस समय वे 'तुलसी' करके अभिहित किए गए हैं। इस पर यही अनुमान किया जा सकता है कि 'रामबोला' उनका पहले का नाम था, जिसको संस्कार के समय नरहर्यानंदजी ने बदलकर तुलसीदास कर दिया। स्वयं गोसाईंजी ने स्थल स्थल पर इस बात की ओर संकेत किया है कि उनका एक नाम 'रामबोला' भी था। कवितावली में उन्होंने एक स्थान पर कहा है—

'रामबोला नाम है गुलाम राम साहि को।'

विनय-पत्रिका में वे कहते हैं—

'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम ।'

रामबोला इनका संस्कार का नाम नहीं था। जन्मते ही इन्होंने 'राम' कहा था। जान पड़ता है, इसी लिये इनका नाम रामबोला पड़ गया था। 'नाम रामबोला राख्यो राम' इसी अर्थ में ठीक हो सकता है।

मूल चरित के अनुसार संवत् १५६१ माघ सुदी पंचमी, तदनुसार १४ जनवरी १५०५ गुरुवार, को नरहर्यानंदजी ने सरयू के तट पर वेद की विधि के अनुकूल तुलसी का यज्ञोपवीत संस्कार किया। इसी दिन उन्होंने उसे राम मंत्र की भी दीक्षा दी। ज्योतिष की गणना से यह तिथि ठीक ठहरती है। जैसे शिशु तुलसीदास ने जन्मते ही 'राम' कहकर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया था वैसे ही उसने अब बिना सिखाए ही गायत्री मंत्र का उच्चारण कर पंडितों को चकरा दिया। इससे इतनी ही बात समझनी चाहिए कि इनको गायत्री मंत्र बहुत घोखवाना नहीं पड़ा।

'तुलसी-चरित' के अनुसार गोसाईंजी के कुलगुरु का नाम तुलसीराम था। कुलगुरु के हाथ से इनका दीक्षा पाना घटता नहीं है। तुलसीदासजी ने बालकांड के आरंभ में, मंगलाचरण के रूप में, अपने गुरु की वंदना यों की है—

"बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर-रूप-हरि।
महा-मोह-तम-पुंज, जासु वचन रवि-कर-निकर॥"

इस सोरठे के 'नर-रूप-हरि' के आधार पर कुछ विद्वानों ने नरहरिदास को इनका गुरु माना है। ये नरहरिदास रामानंदजी के द्वादश शिष्यों में से बताए जाते हैं। डाक्टर ग्रिअर्सन को भी इनकी गुरु-परंपरा की दो सूचियाँ मिली हैं। इन दोनों के अनुसार नरहरिदास ही इनके गुरु ठहरते हैं। परंतु ये नरहरिदास रामानंदजी के नहीं, गोपालदासजी के शिष्य थे, जो रामानंदजी की

शिष्य-परंपरा की छठी पीढ़ी में हुए। इन दोनों सूचियों में और भेद चाहे कितना ही हो; परंतु दोनों से यह बात प्रकट होती है कि गोसाईंजी स्वामी रामानंदजी की शिष्य-परंपरा की तीसरी नहीं आठवीं पीढ़ी में हुए। इन दोनों सूचियों के अनुसार इनकी गुरु-परंपरा यह है—

१—रामानंद, २—सुरसुरानंद, ३—माधवानंद, ४—गरीबानंद (गरीबदास), ५—लक्ष्मीदास, ६—गोपालदास, ७—नरहरिदास, ८—तुलसीदास।

परंतु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वेणीमाधवदास के अनुसार उनके गुरु नरहर्यानंदजी थे, जो रामानंदजी के शिष्य अनंतानंद के शिष्य थे। नरहर्यानंद अनंतानंदजी के अष्ट-शिष्यों में से थे। इसकी पुष्टि नाभाजी के भक्तमाल से भी होती है—

योगानंद, गणेश, करमचंद, अल्ह, पैहारी,
सारी रामदास, श्रीरंग अवधि गुण महिमा भारी।
तिनके नरहरि उदित मुदित महा मंगल तन,
रघुवर यदुवर गाय बिमल कीरति संच्यो धन।
हरि-भक्ति-सिंधु वेला रचे पानि पद्मज सिर दए।
श्री अनँतानँद-पद-परसि ते लोकपाल सेते भए॥

इस प्रकार रघुवरदास के मत को छोड़कर तुलसीदासजी की गुरु-परंपरा के विषय में हमें तीन मत मिलते हैं। एक के अनुसार वे रामानंदजी की दूसरी पीढ़ी में, दूसरी के अनुसार आठवीं में और तीसरी के अनुसार चौथी पीढ़ी में हुए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इनकी जाँच करने से तीसरा, अर्थात् वेणीमाधवदास का, मत ही ठीक जान पड़ता है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डाक्टर भंडारकर के अनुसार रामानंदजी का समय संवत् १३५६ से १४६७ तक है। अगस्त्य-संहिता में, जो रामानंदियों का बहुत मान्य ग्रंथ है, यही समय

दिया हुआ है। अनुमान से १४५० के लगभग उनके द्वादश शिष्यों का शिष्य होना मान्य है। तुलसीदास आठ वर्ष की अवस्था में, सं० १४६१ में, व्रतबंधन और राम नाम में दीक्षित हुए थे। १४५० और १५६१ के बीच न दो पीढ़ियाँ ठीक ठहरती हैं और न आठ। हाँ, इन लगभग सवा सौ वर्षों में चार पीढ़ियों का समय खप जाता है। अतएव 'नर-रूप-हरि' में गुरु के नाम का जो संकेत है उससे अनंतानंद के शिष्य नरहर्यानंद ही समझना चाहिए।

बालक तुलसीदास बड़े गुरु-भक्त थे। वे अपने वृद्ध गुरु की सेवा में सदा तत्पर रहते थे। उनके चरण दाबते थे और उन्हें सब प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। नरहर्यानंद भी उनके गुणों पर मुग्ध हो गए थे। उनकी धारणा-शक्ति अद्वितीय थी। इस मेधावी बालक को वे बड़े प्रेम से पढ़ाने लगे। वेणी-माधवदास के मूल चरित से मालूम पड़ता है कि और विषयों के साथ वे उससे पाणिनि के सूत्र भी मुखाग्र कराते थे। अयोध्या में नर-हर्यानंदजी ने हनुमान टीले पर अपना आश्रम जमाया था। तुलसी-दास अपने गुरु के साथ यहाँ दस मास रहे, तत्पश्चात् हेमंत ऋतु के आरंभ होने पर नरहर्यानंदजी अपने शिष्यों को साथ लेकर सूकर-क्षेत्र चले आए। कुछ लोगों ने सूकरक्षेत्र (सूकरखेत) को चित्र-कूट के निकट का सोरों माना है और इसी आधार पर वहाँ कुछ उत्साही जनों ने तुलसीदासजी का आश्रम भी स्थापित कर दिया है; परंतु वास्तव में सोरों का सूकरखेत से कोई संबंध नहीं है। सूकर-खेत, जैसा वेणीमाधवदास ने लिखा है, सरयू और घाघरा के संगम पर है और आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

सूकरखेत में भी तुलसी की शिक्षा का क्रम चलता रहा। बालक अब कुछ पढ़-लिखकर सयाना हो गया था। उसकी बुद्धि

की प्रखरता प्रकट होने लगी थी। इसलिये नरहर्यानंदजी ने उसे रामचरितमानस की कथा सुनाना उचित समझा। तुलसीदास ने मन लगाकर कथा सुनी और उसके तत्त्व को समझने का वे प्रयत्न करते रहे। नरहर्यानंद बार-बार राम-कथा सुनाकर उनके इस प्रयत्न में सहायता करते रहे। यह बात स्वयं तुलसीदासजी ने भी अपने रामचरितमानस के आरंभ में कही है—

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर-खेत।
समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिँ बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥'

'तब अति रहेउँ अचेत' का अर्थ लगाते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि तुलसीदासजी की यह उक्ति उस समय की है जब वे पूर्ण ज्ञान-संपन्न हो गए थे। इस अवस्था की तुलना में बाल्यावस्था को अचेतावस्था कहना स्वाभाविक ही है। 'अचेत' का अर्थ यह नहीं है कि उनको अभी होश-हवास ही नहीं हुआ था। श्री शिवलालजी पाठक ने, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अपने मानस-मयंक नामक 'तिलक' में लिखा है कि पाँचवें वर्ष तुलसीदास ने अपने गुरु से राम-कथा सुनी थी। 'सुने गुरु ते बीच शर' (५) यह बात असंभव तो नहीं है; किंतु एक पाँच वर्ष के बालक को उद्देश्य करके गूढ़ राम-कथा कहना कुछ जँचता नहीं है। तुलसीदासजी के उपर्युक्त कथन से भी इसकी पुष्टि नहीं की जा सकती; क्योंकि इतनी छोटी अवस्था की किसी घटना का इतनी स्पष्टता से स्मरण रहना असंभव है।

पाँच वर्ष तक सूकरखेत में रहकर नरहर्यानंदजी अपनी शिष्य-मंडली को साथ लेकर काशी धाम आए और अपने संप्रदाय के प्रवर्तक परमगुरु रामानंदजी के स्थान पंचगंगा घाट पर ठहरे।

पंचगंगा घाट पर एक दूसरे महात्मा रहते थे जो वेद पुराण आदि में पारंगत और सर्वशास्त्र-निष्णात थे। इनका नाम शेष-सनातन था। शेषसनातनजी शरीर से तो बूढ़े थे परंतु उनका मन अभी युवाओं की भाँति उत्साहपूर्ण था। तीक्ष्णबुद्धि बालकों को विद्यादान करने का उन्हें व्यसन था। इसे वह अपना कर्तव्य समझते थे। बालक तुलसीदास की प्रखर बुद्धि देखकर वे उस पर रीझ गए। उन्होंने सोचा, इस बटु को विद्या पढ़ाकर अपनी विद्या सफल करनी चाहिए। उन्होंने नरहर्यानंदजी से कहा कि "अपना यह शिष्य आप मुझे दे दीजिए। इसमें लौकिकता नहीं है। मैं इसे अपने पास रखकर पढ़ाना चाहता हूँ।" जान पड़ता है कि आगे चलकर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य नंददास को भी उन्होंने इसी भाँति सिखाने के लिये माँग लिया था; क्योंकि वेणीमाधवदास ने नंददास के भी इन्हीं के यहाँ शिक्षा पाने का उल्लेख किया है। नरहर्यानंदजी ने उनकी बात स्वीकार कर ली; परंतु शिष्य को सहसा छोड़ते भी न बना। जब तुलसीदास वहाँ हिल मिल गए और विद्याध्ययन में अच्छी तरह प्रवृत्त हो गए तब नरहर्यानंदजी चित्रकूट की ओर चले गए। इसके पीछे फिर कभी गुरु शिष्य का मिलन हुआ या नहीं, इसका कुछ पता नहीं चलता।

शेषसनातन अपने नए शिष्य को मनोयोगपूर्वक पढ़ाने लगे और तुलसीदास अपने नए गुरु की तन मन से सेवा करने लगे। उनका यह बड़ा सौभाग्य था कि उन्हें शेषसनातन सरीखा शिक्षा-गुरु मिला। उनके पास रहकर उन्होंने वेद, वेदांग, शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्यकला आदि इतनी अच्छी तरह से पढ़े कि वे उनके व्यक्तित्व के अंग हो गए। इसी से उनके व्यक्तित्व को वह शक्ति प्राप्त हुई जिसमें हिंदुओं के विचार पर उसकी छाप सी लग गई।

१५ वर्ष तक तुलसीदास शेषसनातनजी के पास पढ़ते रहे। इससे अधिक उनकी शिक्षा रक्षा में रहना उनके भाग्य में नहीं था; क्योंकि संवत् १५८२ में शेषसनातनजी का गोलोकवास हो गया। तुलसीदास ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने शिक्षा-गुरु के अंतिम संस्कार किए। उनके साथ ही उनका शिक्षाकाल भी समाप्त हो गया।

---

(५) गार्हस्थ्य जीवन और वैराग्य

शेषसनातनजी के गोलोकवासी हो जाने पर तुलसीदास अन्य-मनस्क रहने लगे। गुरु के वियोग के कारण वे शोकग्रस्त रहते थे। काशी में अब उनका जी नहीं लगता था। उनके बिना वह उन्हें सूनी सी लगने लगी। उन्होंने सोचा कि अब यहाँ से चलना चाहिए। पर जाँय कहाँ ? उन्होंने मन में निश्चय किया कि चलकर पहले अपनी जन्मभूमि का दर्शन करना चाहिए। उनके आत्मीय जनों ने उनके साथ चाहे कैसा ही क्रूर व्यवहार क्यों नहीं किया था फिर भी उनके प्रति उनकी प्रीति थी। शेषसनातन ने तुलसी को केवल पुस्तकी कीट नहीं बनाया था, उनके हृदय में भव्य भावनाओं को भी जागरित किया था। "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गा-दपि गरीयसी" महामंत्र की अनुभूति भी उनको हुई थी। इसी अनुभूति ने उनके राम के मुख से जन्मभूमि की महिमा की यह गौरवपूर्ण घोषणा कराई थी—

'जन्म-भूमि मम पुरी सोहावनि।
उत्तर दिसि सरयू बह पावनि॥
जद्यपि सब वैकुंठ बखाना।
वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरिस मोहि प्रिय नहिं सोऊ।
यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥'

गुरु के वियोग से शोकाकुल हृदय में माता-पिता की सेवा की उत्कंठा लिए हुए तुलसीदास ने अपनी जन्मभूमि की ओर प्रयाग किया। वे क्या जानते थे कि माता-पिता की सेवा क्या, उनके दर्शन भी अब

उनके भाग्य में नहीं हैं। राजापुर पहुँचकर उन्हें राजगुरु वंश का यदि कोई चिह्न देखने को मिला तो वह था उनके भवन का खंडहर, जिससें एक भी प्राणी नहीं दिखाई देता था। गाँव का सारा हाल कहते हुए एक भाट ने उनको यह हृदय-विदारक समाचार सुनाया कि राजगुरु-वंश का अब कोई भी प्राणी बच नहीं रहा है। जैसा उस भाट ने बतलाया, बात यह थी कि जिस समय राजगुरु तुलसीदास के त्याग की बात कर रहे थे उस समय वहाँ एक तपस्वी बैठा हुआ था। वह तेजस्वी तापस पिता के द्वारा पुत्र पर किए जानेवाले इस अत्याचार को सहन न कर सका था। उसने नाग-फणी उठाकर शाप दे दिया था जिससे छः मास के अंदर ही राजगुरु का देहांत हो गया था और दस वर्ष के अंदर उनका सारा वंश ही नष्ट हो गया था।

भाट के मुँह से यह सब बात सुनकर उन्हें अत्यंत शोक हुआ, परंतु किसी प्रकार अपने हृदय पर पत्थर रखकर उन्होंने विधि-विधान के सहित श्राद्ध-पिंड-दानादिक मृतक कर्म किए।

गाँव के लोगों के आग्रह से तुलसीदासजी ने राजापुर में ही रहना स्वीकार किया। लोगों ने ही प्रेम-पूर्वक उनके गिरे हुए भवन को उठा दिया। पारिवारिक विपत्ति को भूलने के लिये तुलसीदास रामचंद्रजी की कथा में मग्न रहने लगे। उनकी कथा की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। दूर दूर से लोग उनकी कथा सुनने के लिये आने लगे।

यमुना के उस पार तारिपता नामक एक गाँव था। उस गाँव में भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मण देवता रहते थे। वे बड़े धर्मनिष्ठ थे। वे सभी पर्वों को मनाते थे। कार्तिकी द्वितीया का स्नान करने के लिये वे एक समय इस पार राजापुर आए। उनके कुटुंबी जन भी उनके साथ थे। तुलसीदास की कथा की प्रशंसा उन्होंने

भी सुनी थी। स्नान-दान करके वे उनकी कथा सुनने आए। व्यास-गद्दी पर बैठे हुए तुलसीदास की योग्यता, उनकी शोभा और उनकी शारीरिक सुंदरता को देखकर वे उन पर रीझ गए और जाते जाते उनके बारे में सब पूछ-ताछ करते गए; जनश्रुति इन ब्राह्मण देवता को दीनबंधु पाठक और उनकी कन्या को रत्नावली नाम से जानती है। पर वेणीमाधवदास इस विषय में चुप हैं।

इन ब्राह्मण देवता की एक कन्या थी। ब्राह्मण देवता अपनी कन्या के लिये योग्य वर की खोज में थे। तुलसीदास उनकी नजर में चढ़ गए। 'दियो सुकुल जन्म, सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को' कहकर तुलसीदास ने अपने प्रति ईश्वर की देन की प्रशंसा योंही नहीं की है। उनकी विद्या-बुद्धि, उनका उच्च कुल और उनका शारीरिक सौंदर्य, सभी के कारण वे उन्हें अपनी पुत्री के योग्य वर प्रतीत हुए और उन्हीं को उन्होंने अपना दामाद बनाने की ठान ली।

वसंत ऋतु के आरंभ होने पर चैत्र मास में ब्राह्मण देवता तुलसीदास के पास पहुँचे और उन्होंने अपना मनोरथ कहा। तुलसीदास गृहस्थी की झंझटों में पड़ना नहीं चाहते थे। ब्राह्मण देवता से भी उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—"महाराज मुझे ब्याह बरेखी कुछ नहीं चाहिए, आप कृपा कर दूसरी जगह पधारकर अपनी कन्या के लिये प्रबंध कीजिए।" परंतु ब्राह्मण देवता कच्ची मिट्टी के नहीं थे। वे तो सन्नद्ध होकर आए थे, ऐसे ही कब माननेवाले थे? अनशन व्रत रखकर वे तुलसीदास के द्वार पर धरना देकर बैठ गए। तुलसीदास को विवाह करना स्वीकार करना पड़ा। बेचारे क्या करते? ब्राह्मण की हत्या कैसे सिर पर लेते?

निदान, संवत् १५८३ की जेठ सुदी तेरस (२४ मई सन् १५२६) बृहस्पतिवार को आधीरात के समय तुलसीदास की भाँवरी

पड़ी और विधि-विधान के अनुसार उनका विवाह हो गया। इस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष १० महीने की थी।

तुलसीदास को पत्नी अत्यंत रूपवती और धर्मशीला मिली थी। उसके मुखचंद्र से घूँघट हटाकर एक ही बार देखने पर उन्होंने अपने आपको उस पर न्योछावर कर दिया। वे उसके प्रेम में इतने मग्न हो गए कि एक घड़ी भी उससे विलग न हो सकते थे। उनकी इस दशा का वर्णन करते हुए वेणीमाधवदास लिखते हैं—

'दिन राति सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥'

(स्वयं वेणीमाधवदास इस प्रेमदशा में इतने मग्न हुए कि अपनी परिस्थिति को भूलकर चलते देखते की प्रेममयी शैली में पड़ गए।)

इस प्रकार गृहस्थी के परमानंद का उपभोग करते हुए पाँच वर्ष एक क्षण के समान बीत गए। वेणीमाधवदास के शब्दों में—

'सर (५) वर्ष परस्पर चाव चए। पल ज्यों रस-केलि में बीत गए।
नहिं जान दें, आपु न जायँ कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥'

इसी बीच में जनश्रुति उन्हें तारक नाम के एक बालक के जन्म की बात बताती है जो बहुत दिनों तक जिया नहीं। परंतु मूल चरित में इसका उल्लेख नहीं है।

एक दिन तुलसीदास कार्यवश बरखासन गाँव गए हुए थे। इस बीच उनका साला उनके यहाँ आया। उसे देखकर उनकी स्त्री को अपने नैहर की याद आ गई। उसे अपनी माता और सखी-सहेलियों को देखने की बड़ी उत्कंठा हो उठी। वह जानती थी कि यदि पतिदेव की आज्ञा की प्रतीक्षा करूँगी तो कभी मायके न जाने पाऊँगी। इसलिये वह बिना उनसे पूछे ही, उनके आने के पहले, अपने भाई के साथ नैहर चली आई। जब तुलसीदास बरखासन से लौटकर आए तो प्रिया को घर पर न पाकर बड़े बेचैन हुए।

दासी से यह सुनकर कि वह अपने भाई के साथ मायके गई है, वे आप भी ससुराल के लिये चल पड़े।

कहानी चलती है कि यह रात्रि का समय था। यमुना बाढ़ में थी। डोंगे चलने का समय न था। परंतु तुलसीदास के हृदय में भी प्रेम की बाढ़ आई हुई थी। इसके सामने उन्हें वह कुछ भी मालूम न हुई। किनारे लगे हुए एक शव को नौका समझकर वे उस पर जा चढ़े और हाथों से ही पतवारों का काम लेकर उस पार पहुँच गए। आधी रात के बीच ये अपने ससुर के मकान के सामने जा खड़े हुए। सब फाटक बंद थे। कोठे पर किसी ने इनकी आवाज न सुनी। कोठे पर चढ़ना भी कठिन था। इनको छज्जों पर से एक रस्सी सी लटकती हुई दिखाई दी। इसी को पकड़कर ये तिवारे पर चढ़ गए। कहानी कहती है कि यह रस्सी नहीं थी, सर्प था। लोगों को रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। इनको सर्प में रज्जु का भ्रम हुआ। तिवारे से जब इन्होंने पुकारा तब इनकी स्त्री को मालूम हुआ कि यहाँ भी पतिदेव ने पिंड नहीं छोड़ा है।

शव और सर्प की कथा को अक्षरशः सत्य मानने के लिये बहुत ही विश्वासी प्रकृति चाहिए। पर यह कथा चाहे सत्य न हो, उससे तुलसीदास के स्त्री-प्रेम के वेगवान् उद्रेक की जो सूचना मिलती है वह अवश्य सत्य है और वही हमारे काम की है। 'मूल-चरित' में वेणीमाधवदास ने यह सब कथा न लिखकर केवल "कौनिउ विधि सरि पार कर" कहकर उन्हें ससुराल के दरवाजे पर पहुँचा दिया है। संभवतः उनके बृहत् गोसाईं-चरित में यह कथा दी हो।

अपने पति का स्वर सुनकर उनकी स्त्री सकपकाकर बाहर आई। अँधेरी रात में इतनी दूर, भयंकर रास्तों को पारकर, आने

के लिये उसने उन्हें फटकारा और गर्व के साथ हँसते हुए यह मीठी चुटकी भी ली कि जितना प्रेम आपका मेरी हाड़-चाम की देह पर है उसका आधा भी यदि रामचंद्रजी पर होता तो आप संसार के जाल से छूट जाते।

'हाड़-मास की देह मम तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भव-भीति'॥

प्रियादास ने भी इस बात का उल्लेख किया है।

स्त्री की इस मीठी झिड़की ने वह काम किया जो संसार भर के उपदेशकों के उपदेश न कर पाते। उसने एक क्षण में तुलसीदास में महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया। गुरु की दी हुई शिक्षा विशेष रूप से उनके स्मृति-पटल पर दौड़ गई। अपने गुरु के वचन उन्हें बहुत सार्थक जान पड़ने लगे। वे सोचने लगे—

'नरहरि' कंचन कामिनी, इनते रहिए दूरि।
जो चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरपूर॥'

इस बात की प्रगाढ़ अनुभूति ने उनके जीवन का प्रवाह ही बदल दिया। जो तीव्र हार्दिक प्रेम उनकी गृहस्थी में स्वर्ग को उतार लाया था वह दूसरी ओर देखने लगा। नववयस्का कोमल सुंदरी के स्थान पर अब सदा के लिये राम की रम्य मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई।

स्त्री को जब ज्ञात हुआ कि जो बात उसने सगर्व हँसी में कही थी वह बहुत दूर तक पहुँच गई है तब उसका गर्व चिंता में बदल गया। उसने बहुत कुछ अनुनय-विनय की, पछताई, रोई और कोप दिखाया। बोली—आप मेरा त्याग कर मुझे लांछित करना चाहते हैं। पर कोई युक्ति काम न आई। तुलसीदास तत्काल वहाँ से चल दिए। उनका साला उन्हें मनाने के लिये बहुत दूर तक पीछे पीछे दौड़ता आया; पर उन्होंने एक न सुनी। तुलसीदास की स्त्री अपनी बात के इस परिणाम के लिये तैयार न थी; परंतु जब उसको विश्वास

हो गया कि अब उसके पति गृहस्थी में न लौटेंगे, तब वह पछता-कर मर गई। वेणीमाधव के अनुसार यह घटना संवत् १५८९ की आषाढ़ वदी १० (२९ मई १५३२ ई०) बुधवार को हुई थी। ज्योतिष की गणना से जाँच करने से यह तिथि ठीक ठहरती है।

जनश्रुति इतनी निष्ठुर नहीं है। वह तुलसीदास की स्त्री को वृद्धावस्था तक जीवित रखती है। उसके अनुसार गोसाईंजी के घर छोड़ने के पीछे स्त्री ने उनको यह दोहा लिख भेजा था—

'कटि की खीनी कनक सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटे की डर नहीं, अनत कटे डर होइ॥'

इसके उत्तर में गोसाईंजी ने लिखा—

'कटे एक रघुनाथ सँग, बांधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पतिनी के उपदेस॥'

बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्र-कूट से लौटते समय अनजान में अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गई थी। बिना उन्हें पहचाने ही वह उनके आतिथ्य-सत्कार में लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो-चार बातें होने पर उसने अपने पति-देव को पहचाना। उसने इस बात को प्रकट न किया और उनके चरण धोने चाहे; पर उन्होंने धोने न दिए। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ले आ देने को कहा; परंतु तुलसीदास ने कहा—यह मेरे झोले में साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहूँ और रामभजन तथा पति-सेवा दोनों एक ही साथ कर अपना जन्म सफल करूँ। रात भर बहुत कुछ आगा-पीछा सोच-विचारकर उसने सवेरे अपने को गोसाईंजी के सामने प्रकट किया और साथ रहने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की। पर गोसाईंजी ने उसे साथ लेना स्वीकार न किया। तब साध्वी स्त्री ने कहा—

'खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥'

थोड़े से भेद से यह दोहा दोहावली में इस प्रकार मिलता है—

'खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, विमल विवेक विराग॥'

यह सुनते ही गोसाईंजी ने अपने झोले की सब वस्तुएँ ब्राह्मणों को बाँट दीं।

जनश्रुति के इन कथानकों के आधार पर ऊपर लिखे दो दोहे हैं जो तुलसीदासजी के लिखे कहे जाते हैं। उनकी स्त्रीवाले दोहे की कल्पना 'कटे एक रघुनाथ सँग' वाले दोहे के लिये अवसर निकालने के उद्देश्य से की गई है। थोड़े से फेर-फार से ये दोहे गृहत्याग के ही समय के वार्तालाप के व्यंजक भी हो सकते हैं। 'खरिया खरी कपूर' वाले दोहे में तो तुलसीदासजी की स्त्री का उसी समय का भाव व्यक्त किया गया है। इसका संकेत वेणीमाधवदास के इस सोरठे से मिलता है—

'लखि रुख तिय अकुलाय, बोली वचन सकोप तब।
"त्याग न उचित कहाय, बिनु तिय मुख खरिया खचे"॥'

जिस कोमल आत्मा को केवल अनन्य प्रेम का अनुभव करने को मिला था, यदि उसने अनंत वियोग की क्रूरता को न सह सकने के कारण देह को परित्याग कर दिया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

पर तुलसी-चरित में विवाह और वैराग्य की बात और ही तरह से दी है। उसमें तुलसीदास के एक नहीं, तीन विवाह कराए गए हैं। इनकी पहली दो स्त्रियाँ किसी भार्गव ब्राह्मण की पुत्रियाँ थीं जो, एक के बाद दूसरी, मर गई थीं। इनका तीसरा ब्याह कंचन-पुर गाँव के लक्ष्मण उपाध्याय की कन्या बुद्धिमती से हुआ था। वह अत्यंत धर्मशीला, गुणवती और ज्ञानवती थी। उसे पुराणों की

कथा सुनने का बड़ा चाव था। तुलसीदास के विवाहों से उनके पिता को खूब धन-लाभ हुआ था। पहले विवाह में उन्हें तीन सहस्र मुद्राएँ मिली थीं और तीसरे में छः सहस्र। दूसरे विवाह में भी कुछ दहेज मिला ही होगा। तीसरा विवाह माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध हुआ था। माता-पिता कदाचित् इसलिये विरुद्ध थे कि घर का काम-काज चलाने के लिये जितना आवश्यक है, बुद्धिमती उससे ज्यादा पढ़ी लिखी थी। इसी लिये शायद लक्ष्मण उपाध्याय से छः हजार की गहरी रकम भी माँगी गई। कहते हैं, इसी तीसरी स्त्री के उपदेश से तुलसीदास को वैराग्य हुआ था।

तुलसी-चरितवाले कथानक को यदि सत्य मानते हैं तो पिता के द्वारा त्याग दिए जाने की कथा झूठी ठहरती है; परंतु जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, पिता के द्वारा त्याग दिए जाने की बात स्वयं तुलसीदासजी के वचनों से सिद्ध है। अतएव तुलसी-चरित की विवाह संबंधी बातें माननीय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त रघुबरदास ने तुलसीदासजी के घर से वैरागी होने के लिये निकलने पर जो दशा बताई है, वह उस व्यक्ति की सी नहीं है जिसके हृदय में वैराग्य का उदय हुआ हो। उससे उनका हृदय वैराग्य की अनुभूति से रहित जान पड़ता है। वे घर से जबर्दस्ती निकाले हुए से लगते हैं। इस समय रघुनाथ पंडित ने उन्हें 'बिसोक आतुर गति-धारी' देखा था। इस पंडित से बुद्धिमती के विषय में तुलसीदास ने कहा था—

'अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाई॥'

यह ऐसे व्यक्ति का सा वर्णन नहीं है जिसके हृदय में वैराग्य की अनुभूति हो। तुलसीदासजी का जो रूप उनके ग्रंथों से प्रस्फुटित होता है, यह उसके प्रतिकूल पड़ता है। और जो कुछ हो, इतनी बात निर्विवाद है कि तुलसीदास का विवाह हुआ था और अपनी

स्त्री के ही कारण उनको वैराग्य हुआ था। जो स्त्री संसार का बंधन समझी जाती है वही उन्हें बंधन से मुक्त करने का निमित्त हुई। गोसाईंजी स्वयं लिखते हैं—

'हम तो चाखा प्रेम-रस, पतिनी के उपदेस।'

जो लोग "व्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं"—विनय-पत्रिका में लिखे इस वाक्य के आधार पर उनका विवाह होना नहीं मानते वे उसका अर्थ नहीं समझते। इसका यही अभिप्राय है कि मुझे अब व्याह-बरेखी नहीं करना है और न जाति की ही चाह है। यह विरक्तावस्था का वचन है। इससे जो बात पहले हो चुकी हो उसका निराकरण नहीं किया जा सकता।

---

(६) खोज

तुलसीदास का हृदय वैराग्य में प्रतिष्ठित हो गया था। परंतु अभी आभ्यंतर के अनुकूल वाह्य वेश बनाना शेष था। अपनी ससुराल से सीधे प्रयाग आकर उन्होंने यह काम पूरा किया। गृहस्थ का वेश त्यागकर उन्होंने विरक्त का वेश धारण किया। यह नहीं प्रकट होता कि उन्होंने किसी सांप्रदायिक रीति का अनुसरण कर नवीन गुरु से वैराग्य की दीक्षा ली हो। बहुत समय पीछे रामायण की रचना करते हुए संवत् १६३१ में उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम में दीक्षित करनेवाले नरहरिजी का ही गुरु के स्थान पर स्मरण किया है। वास्तव में विरक्ति की शिक्षा नरहरिजी दे चुके थे, जो अनुकूल अवसर पाकर फलीभूत हुई।

अब तुलसीदास का जी संसार से उचट गया। उनकी वृत्तियों के एकमात्र लक्ष्य अब राम रह गए थे। उन्हीं परब्रह्म परमात्मा राम के साक्षात्कार के लिये वे व्यग्र हो रहे थे। एक स्थान पर उन्हें चैन नहीं मिलता था। वे अपने राम की खोज में निकल पड़े। पहले उन्होंने रामचंद्र के जन्मस्थान अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया। फफहाँ और गढ़हीले होते हुए, गोमती और तमसा को पारकर, वे अयोध्याजी पहुँचे। वहाँ अच्छा संत-समागम रहा। अयोध्या की जड़ चेतन सभी वस्तुएँ तुलसीदास को अत्यंत प्रिय हो गईं। जिस नगरी में उनके राम ने जन्म लिया था उसका कण कण क्यों न उन्हें प्रिय हो! इसमें आश्चर्य ही क्या है? प्रभु के यश का कीर्तन और श्रवण करते हुए चातुर्मास अयोध्याजी में बिताकर उन्होंने चारों धाम की यात्रा करने का निश्चय किया।

अयोध्या से चलकर पचीस दिन में वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। इस बीच मार्ग में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। वेणीमाधवदास ने बड़ी उत्सुकता के साथ मूल-चरित में उनका उल्लेख किया है। उनमें से एक दुवौली गाँव में हुई। दूसरी का मूल-चरित में स्थान-निर्देश नहीं है; पर कहते हैं कि वह चेंकुल गाँव में हुई। दुवौली में गुसाईंजी चार घड़ी रहे थे। वहाँ हरिराम कुमार से रुष्ट होकर उन्होंने उसे शाप दे दिया जिससे वह प्रेत हो गया। वेणीमाधवदास के अनुसार इसी प्रेत ने आगे चलकर रामदर्शन में गोसाईंजी को सहायता दी। जिला सारन की तरफ ये हरिराम ब्रह्म बहुत प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि इन्होंने कनकशाही बिसेन के अत्याचार से उकताकर आत्महत्या कर डाली थी। यह भी किंवदंती है कि गोसाईंजी उसके यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर वहाँ विद्यमान थे। इससे गोसाईंजी और हरिराम की विपत्ति से संबंध जोड़ना बहुत सरल हो गया। गोसाईंजी के ही शाप से उस पर आपत्ति आई! अपने समय के भले-बुरे छोटे-बड़े सब कामों में गोसाईंजी का हाथ होना ही चाहिए। किन परिस्थितियों में हरिराम गोसाईंजी के कोप का भाजन हुआ, उसकी भी जनमेजय और परीक्षित की कथा ने सामग्री प्रस्तुत कर दी जिसका किसी नवीन हरिराम ब्रह्म-चरित में उपयोग किया गया है। उसी से पंडित रामकिशोर शुक्ल ने कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। उनके अनुसार गोसाईंजी को संध्या में मग्न देखकर दुवौली के सब नटखट लड़के उनके ऊपर ढेला मारने लगे। जब गोसाईंजी का ध्यान टूटा तो और तो सब डरकर भाग गए; परंतु हरिराम ढेले चलाता ही रहा। इसी से गोसाईंजी ने उसे शाप दे दिया कि जा, राक्षस हो जा। इसी से उसे आत्म-हत्या करके ब्रह्म होना पड़ा।

चेंकुल गाँव में चारुकुँअरि नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी। वह सदा साधु-संतों की सेवा में तत्पर रहती थी। तुलसीदास ने

उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया। क्या आशीर्वाद दिया, इसका उल्लेख वेणीमाधवदास ने नहीं किया है। परंतु किंवदंती है कि गोसाईंजी ने उसे वर दिया कि जिस वस्तु पर तू हाथ रख देगी वह व्यय करने पर भी समाप्त न होगी, ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

गोसाईंजी जगन्नाथपुरी में कुछ दिन रहे। सत्संग और देवार्चन के उपरांत उन्हें यहाँ जो कुछ अवकाश मिल जाता उसमें वे वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि करते थे। वेणीमाधव के लेख से तो ऐसा भान होता है मानों गोसाईंजी ने यहाँ संपूर्ण रामायण की प्रतिलिपि की हो। परंतु 'कछुक दिना' में 'जब तब लहि अवकास' इतने बड़े पोथे की प्रतिलिपि नहीं की जा सकती। आगे चलकर फिर काशी में गोसाईंजी के वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि करने का उल्लेख है। हमारा अनुमान है कि गोसाईंजी ने जगन्नाथपुरी में वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि करना आरंभ किया। बहुत समय तक यह अधलिखी पड़ी रही, किंतु फिर संवत् १६४१ में काशीजी में संपूर्ण हुई।

पुरी से वे रामेश्वरम् गए, रामेश्वरम् से द्वारावती और द्वारावती से बदरिकाश्रम। जनसाधारण में यह विश्वास प्रचलित है कि महर्षि व्यास अब तक जीवित हैं और बदरीधाम में तपश्चर्या कर रहे हैं। व्यासजी नारायण के अवतार माने जाते हैं। बदरीनाथजी के मंदिर में नर-नारायण की मूर्तियाँ भी हैं। संभवतः इसी आधार पर यह प्रवाद चल पड़ा हो। वेणीमाधवदास भी अपने गुरु की नारायणरूप व्यास से भेंट कराते हैं। व्यासजी के मुँह से मानसरोवर-माहात्म्य सुनकर तुलसीदास के हृदय में उसे देखने की उत्कट उत्कंठा हुई। मानसरोवर कैलास पर्वत पर है। वहाँ जाने का मार्ग अत्यंत दुर्गम है। दुरारोह पर्वतों पर चढ़ना और उतरना होता है। बहुत कम लोग वहाँ जाने का साहस कर सकते हैं। वही वहाँ

जा सकता है जो अपने प्राणों का लोभ त्याग दे। इन सब बातों से तुलसीदास हतोत्साह न हुए। मानसरोवर का दर्शन करके वे कृतार्थ हुए। मानसरोवर के दर्शन से वे इतने प्रभावित हुए कि राम-चरित की उन्होंने उसी एक सरोवर से तुलना की। रामचरित-मानस के रूपक के व्याज से गोसाईंजी ने मानसरोवर के काई रहित और भेकों से अस्पृष्ट निर्मल जल, वहाँ के भयावह पंथ और अति दुर्गम विशाल शैलों और नाना भयंकर नदियों तथा वहाँ के स्तब्धकर शीत और जूड़ी ज्वर का वर्णन किया है। सच्ची लगन-वाले साधु ही, भगवान् की दया से, वहाँ पहुँच सकते हैं। इस कारण सच्चे सत्संग का सुख वहीं मिलता है। तुलसीदास को इस दिव्य सत्संग से बड़ा आनंद हुआ। मानसरोवर से वे रूपाचल और नीलाचल पर्वतों का दर्शन करने गए। यह मनुष्य की शक्ति से बिल्कुल बाहर है। परंतु गोसाईंजी को अदृश्य भग-वत्सहाय प्राप्त था। इस दिव्य सहायता से वे इन पर्वतों का दर्शन कर कैलास की प्रदक्षिणा करते हुए सकुशल मानसरोवर लौट आए। नीलाचल पर्वत पर उन्हें संतप्रवर परम भक्त भुशुंडीजी के दर्शन हुए थे।

इस प्रकार यात्रा में १४ वर्ष १० मास और १७ दिन बिता-कर तुलसीदासजी ने चित्रकूट के पास भव-वन में अपना आश्रम बनाया और वे वहाँ रहने लगे। अपनी अनन्य राम-भक्ति के कारण वे वनवासी संतों के आदर और प्रीति के भाजन हो गए। यहाँ भी गोसाईंजी की रामकथा धूमधाम से होने लगी। सभी संत लोग उसमें अपने आपको भूलने लगे। उनकी कथा में भक्ति रस का जो अजस्र स्रोत बहता था उसकी अनन्यता ने भक्त-भूषण श्री हनुमानजी को भी आकर्षित किया। जिससे कोई उन्हें पहचाने नहीं, वे कोढ़ी के वेश में कथा सुनने के निमित्त आने लगे। वे सब श्रोताओं

से पहले कथा-मंडप में आ बैठते और सब से पीछे जाते। परंतु तुलसीदास को यह रहस्य ज्ञात नहीं था।

कहते हैं कि इसी वन में पीपल का एक वृहदाकार वृक्ष था। तुलसीदास उसके आस-पास ही शौच-निवृत्ति के लिये जाया करते थे। शौच से जो कुछ जल बच रहता था उसे वे उसकी जड़ पर डाल देते थे। यह उनका नित्य नियम हो गया था। इस पेड़ पर एक प्रेत रहता था। पाठकों को याद होगा कि जगन्नाथजी जाते हुए दुबौली में गोसाईंजी ने हरिराम कुमार को शाप दिया था। यह उसी की प्रेतात्मा थी। अब तक उसका प्रेत शाप की अग्नि से जलता रहता था। इस जल को पीकर उसको कुछ शांति मिल जाती थी। जब उसने तुलसीदासजी को पहचाना तब उसे अत्यंत हर्ष हुआ। उसने सोचा कि यदि मुझसे गोसाईंजी की थोड़ी सी भी सेवा बन पड़े तो मेरे पिछले कर्म का, जिसके कारण मैं उनके क्रोध का भाजन हुआ था, कुछ प्रायश्चित्त हो जाय। इस विचार से उसने एक दिन प्रकट होकर गोसाईंजी को नमस्कार किया और कहा कि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा कीजिए, मैं करने को प्रस्तुत हूँ। भला गोसाईंजी क्या चाहते! उनको संसार की किसी वस्तु की इच्छा न थी। उनकी समस्त वासनाएँ रामाभिमुख थीं। उन्होंने कहा—"यदि तुममें शक्ति है तो कोई ऐसा उपाय बतलाओ जिससे रामजी के दर्शन मिलें।"

प्रेत ने विनम्र होकर उत्तर दिया—"भगवन्, मैं तो एक असमर्थ प्रेतात्मा हूँ। यह शक्ति मुझमें कहाँ कि आपको रामचंद्रजी का दर्शन करा सकूँ। हाँ, आपके यहाँ कथा सुनने के लिये नित्य प्रति हनुमानजी आया करते हैं, यदि आप उनसे प्रार्थना करें तो वे अवश्य आपका अभिलाष पूर्ण करेंगे।"

तुलसीदासजी ने कहा—"किंतु मैं उन्हें पहचानूँगा कैसे! क्योंकि वे तो वेश बदलकर आते होंगे।" प्रेत ने उन्हें बता दिया कि

वे कोढ़ी के वेश में रहते हैं, सबसे पहले कथा-मंडप में आते हैं और सबसे पीछे जाते हैं।

एक दिन कथा समाप्त हो जाने पर जब सब लोग चले गए, गोसाईंजी अवसर पाकर हनुमानजी के चरणों पर गिर पड़े। हनुमानजी ने उन्हें कई प्रकार से टालना चाहा। परंतु तुलसीदास को वे किसी प्रकार न टाल सके। उन्होंने प्रेमाश्रुओं से हनुमानजी के चरणों को धो डाला। हनुमानजी भी अपने आपको न रोक सके। उनकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह चली। उन्होंने गोसाईंजी को गले से लगा लिया और गद्‌गद कंठ से उन्हें चित्रकूट रहने का उपदेश दिया तथा यह आश्वासन दिया कि वहाँ अवश्य तुम्हें रामजी के दर्शन होंगे।

हनुमानजी के आदेशानुसार तुलसीदास चित्रकूट को चले। उनके हृदय में भक्ति और आनंद का सागर उमड़ रहा था। पल पल पर उनकी रामदर्शन की अभिलाषा बढ़ रही थी। नाना संकल्प-विकल्प उनके हृदय में उठ और बैठ रहे थे। वे अपने कृत्यों को इस योग्य न समझते थे कि उनको रामजी के दर्शन मिल सकें। परंतु फिर वे सोचते थे कि रामचंद्र तो पतितपावन हैं; वे भक्तों के दोषों की ओर दृष्टिपात नहीं करते, प्रत्युत उनका उद्धार करने के लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। इस विचार से उनकी मनो-वांछा और भी तीव्र हो जाती। चित्रकूट जाकर गोसाईंजी ने रामघाट पर आसन जमाया। इसी प्रकार की उत्कट अभिलाषा को लिए हुए एक बार वे चित्रकूट की प्रदक्षिणा के लिये गए। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि दो अभिराम राजकुमार घोड़े पर चढ़े आखेट कर रहे हैं। उनके सुंदर रूप को देखकर गोसाईंजी मुग्ध हो गए। परंतु उनको यह भेद मालूम न हुआ कि वे कौन हैं। जब वे राजकुमार अंतर्धान हो गए तब हनुमानजी ने प्रकट होकर भेद

खोला कि वे राम और लक्ष्मण थे। अब तुलसीदासजी को पछतावा हुआ और वे बड़े विकल हो गए। किंतु फिर हनुमानजी ने उन्हें धीरज और आशा दी कि कल प्रातःकाल फिर तुम्हें दर्शन होंगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल गोसाईंजी रामभजन में मग्न होकर रामघाट पर बैठे। वे राम-विरह से अत्यंत व्याकुल थे। इसी समय रामचंद्रजी ने प्रकट होकर कहा—"बाबा, चंदन दो।" तुलसीदासजी देने के लिये चंदन घिसने लगे। हनुमानजी ने तुलसीदास को यह संकेत करने के लिये कि यही रामचंद्र हैं तोते के रूप में प्रकट होकर आकाश से यह दोहा पढ़ा—

'चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसैं तिलक देत रघुबीर॥'

तुलसीदास निर्निमेष नेत्रों से रामचंद्रजी की सुंदरता देखने लगे और अपने आपको बिल्कुल भूल गए। चंदन घिसना भूलकर वे मूर्च्छित होकर बैठे रह गए। रामचंद्र के बार बार कहने पर भी जब तुलसीदास ने नहीं सुना तो रामचंद्रजी स्वयं तिलक लेकर अंतर्हित हो गए। तुलसीदास को विरह की अवस्था में वहीं रात हो गई। उन्हें घर जाने का ध्यान न आया। उनकी विरह-व्यथा जब बढ़ती ही गई तब हनुमानजी ने प्रगट होकर उनको स्वस्थ किया। इस समय से तुलसीदासजी की भक्ति की महिमा और भी फैल गई।

वेणीमाधवदास के कथनानुसार एक बार नहीं, कई बार तुलसीदासजी को राम-दर्शन हुए थे—

'नित नित्य बिहारहु देखत हैं। मृगया कर कौतुक पेखत हैं।'

स्वयं तुलसीदासजी ने अपनी विनयपत्रिका के एक पद में इस घटना की ओर संकेत किया है—

'तुलसी तोकों कृपालु जो, कियो कोसलपाल।
चित्रकूट को चरित्र, चेतु चित करि सो॥'

हो सकता है कि हनुमानजी की आदर्श प्रभु-भक्ति को सामने रखकर ही उन्होंने अपनी भक्ति को पारमात्मिक मिलन की अनुभूति से फलीभूत किया हो, इसी से हनुमानजी की सहायता से उनको रामदर्शन प्राप्त होना कहा गया हो। यह भी संभव है कि उस कोढ़ी को, जो प्रेम से उनकी कथा सुना करता था, उसकी अनन्य भक्ति के कारण ही गोसाईंजी ने हनुमानजी की समानता दी हो जिससे इस किंवदंती के लिये आधार मिला हो।

परंतु उनके कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्हें किस रूप में परमात्मा का दर्शन हुआ था। क्या सचमुच भगवान् ने मनुष्य का रूप धारण कर उन्हें दर्शन दिए थे? कई साधु संत महात्माओं के विषय में कहा जाता है कि उन्हें परमात्मा के दर्शन हुए थे। कबीर ने कई स्थलों पर स्वयं कहा है कि मैंने परमात्मा को देखा है। मध्य युग के कई यूरोपीय संतों के विषय में भी यही बात कही जाती है। परंतु इन्होंने परमात्मा को चर्म-चक्षुओं से देखा हो, यह बात नहीं है। कबीर ने स्पष्ट कहा है कि चर्म-चक्षुओं से परमात्मा के दर्शन नहीं होते। परमात्मा का दर्शन आंतरिक अनुभूति-क्षेत्र की बात है, बाहरी इंद्रिय-जगत् की नहीं। विलियम जेम्स मध्य-कालीन यूरोपीय संतों के विषय में विवेचना करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। इन यूरोपीय संतों ने भी अपनी हार्दिक अनुभूति के क्षेत्र में ही परमात्मा के दर्शन किए थे, चर्म-चक्षुओं से नहीं। गोसाईंजी भी परमात्मा के निर्गुण रूप की हार्दिक अनुभूति होना मानते हैं; परंतु साथ ही इस आंतरिक अनुभूति के सहकार में उसका प्रत्यक्ष साक्ष्यभूत बाह्य सगुण रूप का दर्शन होना भी वे मानते हैं—

'हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥'

भीतरी खोज के लिये वे बाहरी खोज आवश्यक समझते थे। जो लोग परमात्मा को अंतर्यामी समझकर बाहर उसकी खोज करना अनुचित समझते थे उनका गोसाईंजी ने उपहास किया है—

'कहत सकल घट राममय तो खोजत केहि काज।
तुलसी कहँ वह कुमति सुनि उर आवत अति लाज॥'

प्रतीत होता है कि गोसाईंजी के अनुसार धनुर्बाणधारी रूप ही ब्रह्म राम का पट-रूप है जिसमें मुक्तात्माओं को दर्शन मिलते हैं। रामचरितमानस में तुलसीदासजी राम के रहने का स्थान बतलाते हुए कहते हैं—

'सब तजि तुम्हहिं रहहिं लय लाई।
तिन्हके हृदय रहहु रघुराई॥
सरगु नरगु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥'

यह भी हो सकता है कि गोसाईंजी को मृगया-विहारी रामचंद्र की ही मूर्ति सबसे अच्छी लगती थी। उनकी वही मूर्ति उनके हृदय में रमती थी। अतएव ध्यानावस्था में वही मूर्ति उनके सामने आ जाती थी। गीतावली में उन्होंने मृगया-विहारी राम का जो मनोमुग्धकारी वर्णन किया है उससे पता चलता है कि उस मूर्ति पर उनका कितना गहरा ध्यान था—

'सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसती सो मूरति मन मोरे॥
× × ×
जटा मुकुट सिर सारस नयननि, गौंहैं तकत सु भौंह सकोरे॥'

चाहे गोसाईंजी को आंतरिक अनुभूति हुई हो, अथवा उन्होंने किंवदंती के ही अनुकूल राम को धनुर्धारी राजकुमार के रूप में देखा हो; परंतु यह तो निश्चित है कि यह घटना चित्रकूट की है। जिस

खोज के लिये उन्हें उनकी प्रिय पत्नी ने अनजान में प्रेरित किया था वह चित्रकूट में समाप्त हुई। पहले पहल यहीं उनको राम के दर्शन हुए। इसी कारण चित्रकूट के लिये आजन्म उनके हृदय में ऊँचा स्थान रहा। चित्रकूट के दर्शनों के लिये जाते हुए उनके हृदय में बड़ा उत्साह भर जाता था—

'अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।
भूमि विलोकु राम-पद-अंकित, बन विलोकु रघुबर-विहार-थलु॥'

कई जगह उन्होंने चित्रकूट का वर्णन किया है और उसकी महिमा गाई है। विनयपत्रिका के दो पदों में चित्रकूट का बड़ा माहात्म्य कहा गया है। उसे यहाँ तक महत्त्व दिया गया है कि राम-भक्ति संपादन का एक साधन यह बतलाया गया है कि नियम-पूर्वक चित्रकूट जाकर रहे—

'सब सोच-विमोचन चित्रकूट, कलिहरन, करन कल्यान बूट।

× × × × × ×

तुलसी जो रामपद चहिय प्रेम, सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम।'

चित्रकूट का स्मरण आते ही उनके हृदय में कविता का स्रोत उमड़ पड़ता था। रामचरितमानस और गीतावली में चित्रकूट के जो वर्णन दिए गए हैं, वे हिंदी-साहित्य में प्रकृति-संबंधी स्वाभाविक ऊँची श्रेणी की कविता के बहुत सुंदर उदाहरण हैं—

'सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु विसेष गिरि देखत मन अनुरागत॥
चहुँ दिसि बन संपन्न, विहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस पुर मसुदित प्रजा सकल सुख छावत॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँग-मँगे सृंगनि।
मानहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि॥

ने कहा कि जो तुम और तुम्हारे वंश के लोग न किसी को सतावेंगे और न किसी की चोरी करेंगे तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। मँगरू ने गोसाईंजी की शर्त को पूरा निभाया। उसका वंश खूब फूला फला और उसके वंशज अब तक वर्तमान हैं। वे भी उसे यथावत् निभाते चले आ रहे हैं। यद्यपि शाहाबाद और बलिया जिले के लोग चोरी करने में प्रसिद्ध हैं; पर मँगरू के वंशजों की सादगी, सचाई और अतिथि-सेवा कहावत हो गई है। गोसाईंजी के आतिथ्य की बात इन जिलों में बहुत प्रसिद्ध है

...यहाँ से गोस्

ास के मठ में

ी को में

नविक

ग्न

खोज के लिये उन्हें उनकी प्रिय पत्नी ने अनजान में प्रेरित किया था वह चित्रकूट में समाप्त हुई। पहले पहल यहीं उनको राम के दर्शन हुए। इसी कारण चित्रकूट के लिये आजन्म उनके हृदय में ऊँचा स्थान रहा। चित्रकूट के दर्शनों के लिये जाते हुए उनके हृदय में बड़ा उत्साह भर जाता था—

'अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।
भूमि विलोकु राम-पद-अंकित, घन विलोकु रघुबर-बिहार-थलु॥'

कई जगह [illegible] हंसनगर होते हुए [illegible] वर्णन किया है और उसकी महिमा गाई है [illegible] गंभीरदेव का आतिथ्य स्वीकार किया [illegible] माहात्म्य [illegible] क्षत्रिय थे। उनके वंशज अब भी वर्तमान हैं; परंतु राम-[illegible] गायघाट में न रहकर हल्दी गाँव में रहते हैं।

पूर्व [illegible] गायघाट से आगे ब्रह्मपुर गाँव पड़ता है। वहाँ ब्रह्मेश्वर-नाथ महादेव का मंदिर है। शिवरात्रि को यहाँ बड़ा मेला लगता है। इस गाँव से होते हुए महादेवजी का दर्शन कर गोसाईंजी कांत-ब्रह्मपुर पहुँचे। यह अहीरों का गाँव था। इस गाँव के लोगों को उन्होंने बिलकुल राक्षसी भावों में लिप्त पाया। अतएव आतिथ्य-सत्कार की आशा त्यागकर वे आगे बढ़े। इतने में उन्हें सँवरू अहीर का लड़का मँगरू अहीर मिला। वह बड़े आदर से उन्हें अपने घर ले गया। जो कोई साधु-संत उधर से होकर जाते उनका श्रद्धा सहित अतिथि-सत्कार करना उसने अपना नियम बना रखा था। गोसाईंजी को भी उसने ताजा दूध दुहाकर श्रद्धापूर्वक अर्पित किया। गोसाईंजी ने उसका खोआ बनाकर खाया। मँगरू के सद्भाव और उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने उससे वर माँगने को कहा। मँगरू ने निवेदन किया कि यदि आप प्रसन्न ही हैं तो मुझे एक तो यह वर दीजिए कि प्रभु के चरणारविंदों में मेरा दृढ़ विश्वास हो और दूसरे यह कि मेरा वंश बढ़े। तुलसीदास

ने कहा कि जो तुम और तुम्हारे वंश के लोग न किसी को सतावेंगे और न किसी की चोरी करेंगे तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। मँगरू ने गोसाईंजी की शर्त को पूरा निभाया। उसका वंश खूब फूला फला और उसके वंशज अब तक वर्तमान हैं। वे भी उसे यथावत् निभाते चले आ रहे हैं। यद्यपि शाहाबाद और बलिया जिले के लोग चोरी करने में प्रसिद्ध हैं; पर मँगरू के वंशजों की सादगी, सचाई और अतिथि-सेवा कहावत हो गई है। गोसाईंजी के आतिथ्य की बात इन जिलों में बहुत प्रसिद्ध है।

यहाँ से गोसाईंजी बेला पतार गए और साधु धनीदास के मठ में टिके। यह साधु बड़ा धूर्त था। कहता था कि ठाकुरजी को मैं जो कुछ भोग चढ़ाता हूँ वे उसमें से स्वयं पाते हैं। वास्तविक बात यह थी कि जिस आले में भोग का थाल रखा जाता था उस पर एक परदा पड़ा रहता था जिसके पीछे एक चूहा रखा रहता था। यही चूहा भगवान् के बदले भोग लगाता था। जब लोग थाल देखने आते थे तो आहट पाते ही चूहा भाग जाता था और लोग समझते थे कि वास्तव में ठाकुरजी ने ही भोग लगाया था। इससे इसकी ख्याति खूब फैली। बड़े बड़े लोग इसके दर्शनों को आने लगे। वहाँ के राजा रघुनाथसिंह भी एक दिन यह कौतुक देखने आए। वह साधु की धूर्त्तता को भाँप गए। जाँच करने पर आले में चूहा देखकर उनका संदेह और भी पुष्ट हो गया। उन्हें साधु पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उससे कहा कि एक मास के बीतने पर मैं फिर ठाकुरजी को भोग लगाते देखने आऊँगा। उस समय यदि ठाकुरजी मेरे सामने भोग न लगायेंगे तो तुम सूली पर चढ़ा दिए जाओगे। जिस समय गोसाईंजी मठ में पहुँचे उस समय धनीदास अपनी मृत्यु निश्चय समझ अपने अंतिम दिन गिन रहा था, खाना-पीना सब छोड़े हुए था। अपने किए पर

उसे वास्तविक पश्चात्ताप हो रहा था। इस पश्चात्ताप में आगे के सुधार के बीज देखकर गोसाईंजी ने उसे धैर्य बँधाकर भोजन कराया। अवधि समाप्त होने पर रघुनाथसिंह आए। गोसाईंजी ने उन्हें समझा-बुझाकर धनीदास की परीक्षा लेने से विमुख कर दिया, जिससे उसकी पत रह गई और प्राण बचे। गोसाईंजी ने कुछ इस प्रकार रघुनाथसिंह को समझाया—"भगवान् झूठे भक्तों का भी उद्धार करते हैं। अजामिल ने कौन बड़ी भक्ति की थी। इसी भाँति आप लोग भी अपने मूर्ख पुरोहित को दान दिया ही करते हो। भक्त झूठा-सच्चा जैसा कुछ भी हो भगवान् के नाम की आड़ लेता है, इसलिए अवध्य है।" यह दोहा इसी समय का जान पड़ता है—

'तुलसी झूठे भगत की पत राखत भगवान।
ज्यों मूरख उपरोहितहिं देत दान जजमान॥'

रघुनाथसिंह को गोसाईंजी की बात माननी पड़ी; क्योंकि उनके प्रति उसके हृदय में स्वतः श्रद्धा उमड़ पड़ी थी। उसने उन्हें अपने महल में पधारने का निमंत्रण दिया। वहाँ उनका गोविंद मिश्र नामक एक बड़े भक्त ब्राह्मण से साक्षात्कार हुआ। मिश्रजी बड़े तपोनिष्ठ और चमत्कारी महात्मा समझे जाते थे। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि उनकी दृष्टि पड़ने से कड़े से कड़ा लोहा पिघल जाता था। गोसाईंजी के कहने से राजा ने गाँव का नाम बदलकर रघुनाथपुर रख दिया। इससे दो उद्देश्यों की पूर्ति हुई। एक तो वह नाम रघुनाथसिंह का स्मारक हो गया और दूसरे इसी बहाने रघुनाथ रामचंद्रजी के नाम-स्मरण का भी साधन हो गया। यह स्थान अब तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर गोसाईंजी का चौरा भी है। इसी के पास एक गाँव कैथी है। कहते हैं कि वहाँ के प्रधान जोरावरसिंह ने भी गोसाईंजी का आतिथ्य-सत्कार किया था और वे उनके शिष्य हो गए थे।

वहाँ से गोसाईंजी हरिहरक्षेत्र पर संगम में स्नान करके पट्पदी होते हुए जनकपुर पहुँच गए। पट्पदी जनकपुर के बिल्कुल पास ही है। यहाँ किसी के यहाँ खीर खाई। खीर एक लड़की ने परसी थी। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि स्वयं सीताजी ने बालिका-रूप में उन्हें खीर का प्रसाद दिया था।

हाला के ब्राह्मणों को बहुत प्राचीन काल से हाला आदि १२ गाँवों की वृत्ति मिलती थी। कहते हैं कि सीताजी के विवाह के समय से उन्हें यह वृत्ति मिलती थी। तिरहुत सूबा के नवाब ने, जो बड़ा हठी और कलह-प्रिय था, उनकी यह वृत्ति छीन ली थी। इससे उनमें बड़ा असंतोष फैला हुआ था। गोसाईंजी का आना सुनकर उन्होंने उनसे अपना कष्ट निवेदन किया। गोसाईंजी की मंत्रणा और प्रयत्न से उन्हें उनकी वृत्ति वापिस मिल गई। किंवदंती है कि हनुमानजी की सहायता से गोसाईंजी ने यह काम किया था और नवाब को दंड भी दिलाया था। परंतु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि किंवदंती के हनुमानजी के स्थान पर मानसिंह, अब्दुर्रहीम खानखाना आदि दरबारी मित्र इस काम में उनके सहायक हुए होंगे। संभवतः इतनी प्राचीन वृत्ति को अकारण हर लेने की अदूरदर्शिता पर नवाब पर ऊपर से डाँट फटकार भी पड़ी होगी।

संवत् १६४० के आरंभ होते होते गोसाईंजी काशी लौट आए। परंतु बहुत समय तक काशी में विश्राम न कर सके। उन्हें कार्य-विशेष से नैमिषारण्य जाना पड़ा। नैमिषारण्य एक प्रसिद्ध तीर्थ है। प्राचीन काल में यह तपस्वियों का आश्रम था। परंतु इधर इस स्थान की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। यहाँ के प्रायः सभी देवस्थान लुप्त हो गए थे। वनखंडी नामक एक साधु ब्राह्मण से यह बात न देखी गई। उसने देवस्थानों का उद्धार कर इस प्राचीन तीर्थ को अपने पूर्व गौरव पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न

आरंभ किया। किंवदंती है कि किसी प्रेत ने, अपना परलोक सुधारने के उद्देश्य से, वनखंडी को नरजन्म का अपना गाड़ा हुआ एक बहुत बड़ा खजाना, जिसके ऊपर वह मँडराया करता था, दे दिया था। किस प्रकार उस प्रेत ने वनखंडी के साथ आकाश-मार्ग से चारों धाम की यात्रा करते हुए अंत में आश्चर्य-चकित कुतूहल-पूर्ण जन-समूह के बीच में काशी में गोसाईंजी के आश्रम में उतरकर गोसाईंजी के दर्शनों से मुक्ति प्राप्त की, इस कथानक का वेणीमाधवदास ने उल्लेख किया है। जो हो, वनखंडी ने अपने मन में यह निश्चय किया था कि किसी बड़े महात्मा के हाथ से नैमिषारण्य के देव-स्थानों की पुनर्प्रतिष्ठा करवानी चाहिए, जिससे उनका फिर न लोप हो। गोसाईंजी से बढ़कर ऐसा कौन और महात्मा मिल सकता था। इसलिए बड़ी अनुनय विनय कर वह उन्हें नैमिषारण्य ले गया।

मार्ग में गोसाईंजी पाँच दिन अयोध्या में ठहरे। वहाँ उन्होंने मंदिरों में अपनी गीतावली के पदों के गान का प्रचार किया। गायकों को उन्होंने गीतावली की एक प्रति भी दी। यहाँ से खनाही, सूकरखेत और पसका होते हुए वे लखनऊ पहुँचे। सियखार गाँव में उन्होंने एक कुएँ का जल पिया जिसकी उन्होंने बड़ी प्रशंसा की। इस कुएँ का नाम सीता-कूप है। संभवतः यह नामकरण गोसाईंजी ने ही किया हो। लखनऊ में गोसाईंजी ने कुछ दिन विश्राम किया। यहाँ दामोदर भाट की कविता सुनकर गोसाईंजी ने उसकी बड़ी सराहना की। इससे पहले लोग उसे नहीं जानते थे और वह बड़ा दरिद्र जीवन व्यतीत करता था। परंतु अब उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी। उसका उत्साह भी बढ़ गया और वह थोड़े ही दिनों में बहुत धनवान् हो गया।

वहाँ से थोड़ी दूर मडिहाऊँ गाँव है। यहाँ भीष्मसिंह कानूनगो रहते थे। वे बड़े भक्त-जन थे। गोसाईंजी की उन्होंने बड़ी

आवभगत की और उन्हें अपना नख-सिख ग्रंथ सुनाया। फिर चनहट होते हुए गोसाईंजी मलिहाबाद पहुँचे। वहाँ ब्रजवल्लभ भाट के यहाँ ठहरे। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उन्होंने उसे 'रामचरितमानस' की एक प्रति दी। उसके वंशजों के पास उस प्रति का अब तक होना कहा जाता है। हमें भी इस प्रति के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परंतु इसकी जाँच का हमें अवसर नहीं दिया गया। जिनके अधिकार में वह प्रति है, वे नहीं चाहते कि उसकी कोई जाँच करे। परंतु लोग कहते हैं कि उसमें क्षेपक हैं। इससे यह प्रति वह नहीं कही जा सकती जो गोसाईंजी ने ब्रजवल्लभ को दी थी।

वहाँ से प्रभाती में स्नान करके गोसाईंजी वाल्मीकिजी के आश्रम से होते रसूलाबाद के पास कोटरा गाँव में आए। वहाँ अनन्यमाधवजी से सत्संग हुआ। ये बड़े भक्त और कवि थे। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि इन्होंने गोसाईंजी को अपनी एक कविता सुनाई जिसमें माता को शिक्षा दी गई थी। कहते हैं, वह कविता यह थी—

'ऐसो सोच न करिए माता।
देवलोक सुर देह धरी जिन किन पाई कुसलाता॥
पराक्रमी को भीषम से करन दानि से दाता।
जिनके चक्र चलत हैं अजहूँ वरी न भई मिलाता॥
मृत्यु बाँधि रावण बस राखी, भरो गर्भ भरो हाता।
तेऊ उदि उदि भए काल बस ज्यों तरुवर के पाता॥
सुनु जननी अब सावधान ह्वै परम पुरातन पाता।
माधवअनन्य दास राम कियो कहाँ काहि से नाता॥'

कहते हैं, गोसाईंजी ने यहाँ नीचे लिखा पद बनाया था—

'मैं हरि पतित-पावन सुने।

मैं पतित, तुम पतित-पावन, दोउ बानक बने ॥
व्याध, गनिका, गज, अजामिल साखि निगमनि भने
और पतित अनेक तारे, जात सो कापै गने ?
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने ।
दास तुलसी सरन आयो राख लिए अपने ॥'

इसके उत्तर में अनन्यमाधव ने यह पद बनाकर गाया—

'तब तें कहां पतित नर रह्यो ।
जब तें गुरु उपदेस दीनो नाम-नाका गह्यो ॥
लोह जैसे परस पारस नाम कंचन लह्यो ।
कस न कसि कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चह्यो ॥
उभरि आयो विरह बानी मोल महँगो कह्यो ।
खीर नीर तें भयो न्यारो नरक तें निर्वह्यो ॥
मूल माखन हाथ आयो त्यागि सरवर मह्यो ।
अनन्यमाधव दास तुलसी भव-जलधि निर्वह्यो ॥'

वहाँ से वे बिठूर (ब्रह्मावर्त) गए। यहाँ प्रातःकाल स्नान करते समय उनके पाँव कीचड़ में धँस गए। बड़ी कठिनाई से किसी स्त्री की सहायता से आप बाहर निकल पाए। वेणीमाधवदास का कथन है कि स्वयं गंगाजी ने इस स्त्री के रूप में उन्हें बाँह पकड़कर पंक से बाहर निकाला था।

बिठूर से वे संडीले गए। वहाँ गौरीशंकर नाम का एक व्यक्ति रहता था। उसके घर को उन्होंने प्रणाम किया। लोगों के पूछने पर आपने बताया कि इस घर में श्रीकृष्ण के मित्र मनसूखा का अवतार होगा। यह मकान अब तक उसी दशा में है जिस दशा में गोसाईंजी ने उसे प्रणाम किया था। कुछ काल पीछे वहाँ एक बालक का जन्म हुआ। इसका नाम वंशीधर रखा गया। यह बड़ा कृष्णभक्त और कवि हुआ। इसने बड़ी विरक्ति

उत्पन्न करनेवाली कविता कही है। वंशीधर की कुछ कविताएँ साधुओं के मुख से सुनी जाती हैं। वंशीधर के वंशज अब तक विद्यमान हैं। वे उसके चमत्कारों की कहानी कहते हैं। वंशीधर जिस समय सात वर्ष का था उसी समय संडीले के निकट का एक ब्राह्मण जगन्नाथ-यात्रा को गया; परंतु पुरी पहुँचने पर उसे जगन्नाथजी की मूर्ति नहीं दिखाई पड़ी। वह बड़े असमंजस में पड़ा कि बात क्या है। रात को उसे जगन्नाथजी ने स्वप्न दिया कि हमारा मित्र मनसूखा संडीले में वंशीधर रूप में प्रकट हुआ है। तुम बिना उसका दर्शन किए चले आए हो। पहले उसका प्रसाद पाकर आओ तब तुम्हें दर्शन मिलेंगे। उसने ऐसा ही किया और उसे दर्शन मिले।

'सुधि करत कमल-नयनन की।
वे दिन बिसर गए मोहन को घाँह दसीसे नयनन की॥'

किसी रासधारी के मुँह से यह रास सुनकर उसका कृष्ण-विरह उत्कट रूप में जागरित हो उठा जो उसके लिये असह्य हो गया और उसने अपना शरीर त्याग दिया। कहा जाता है कि खैराबाद के हलवाई सिद्ध प्रवीण ने उसे विमान पर चढ़कर वैकुंठ जाते हुए देखा था। वेणीमाधवदास ने भी इसका उल्लेख किया है।

अंत में गोसाईंजी नैमिषारण्य पहुँचे। वहाँ तीन मास रह-कर आपने शोध शोधकर लुप्त देवस्थानों की फिर से स्थापना की और इस प्रकार वनखंडी का मनोरथ पूर्ण किया।

नैमिषारण्य से गोसाईंजी वृंदावन गए। वहाँ वे रामघाट पर ठहरे। उनके दर्शनों के लिये लोगों का मेला सा लग गया। साधारण व्यक्ति से लेकर बड़े बड़े संत महात्मा तक उनसे मिलने आए। यहीं गोस्वामीजी भक्तमाल के कर्ता नाभाजी से भी मिले। किंवदंती यह भी है कि पहले नाभाजी गोसाईंजी से मिलने के

लिये काशी गए थे। उस समय गोसाईंजी ध्यान में मग्न थे, नाभाजी से कुछ बातचीत न कर सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन के लिये चल दिए। गोसाईंजी ने जब यह सुना तब वे बहुत पछताए और इसी लिये उन्होंने यह लंबी यात्रा भी की।

गोसाईंजी जिस समय नाभाजी से मिलने गए उस समय उनके यहाँ साधुओं का भंडारा हो रहा था। उस समय की घटना का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है; अतएव वह यहाँ नहीं लिखी जाती। कहते हैं कि पहले नाभाजी ने बिगड़कर तुलसीदास-विषयक छप्पय का अंतिम चरण यह रखा था—

'कलि कुटिल जीव तुलसी भए वाल्मीकि अवतार धरि।'

इस पाठ से वाल्मीकिजी के साथ तुलसीदास का पूर्ण साम्य हो जाता था; क्योंकि वाल्मीकिजी भी पहले कुटिल थे और तुलसीदासजी ने भी पहले नाभाजी से कुटिलता की थी। परंतु हमें तो यह जान पड़ता है कि इसी साम्य को पूरा दिखलाने के लिये किसी को यह कथा सूझी है। इसी से यह अमान्य है।

नाभाजी ने घुमा-फिराकर गोसाईंजी को वृंदावन के प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों के दर्शन कराए। यहाँ उनके गुरुभाई नंददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण उनसे मिलने आए। स्वामी हितहरिवंशजी के पुत्र गोपीनाथजी भी उनसे मिले। गोपीनाथ केवल वृंदावन का माहात्म्य मानते थे; क्योंकि वह कृष्ण की जन्मभूमि थी। उन्हें गोसाईंजी ने अयोध्या का माहात्म्य बड़ी अच्छी तरह समझाया और विश्वास करा दिया कि जिसे कहीं गति नहीं मिलती उसे भी रघुनाथजी वहाँ अपना आश्रय देकर तार लेते हैं।

यहाँ से गोसाईंजी ने चित्रकूट के लिये प्रस्थान किया। कुछ दिन उन्होंने वहाँ विश्राम किया। सत्यकाम नामक एक ब्राह्मण वहाँ उनका शिष्य होने की इच्छा से आया। गोसाईंजी को उसके

हृदय की शुद्धता पर संदेह हुआ। इसलिये उन्होंने उसे शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। पर वह हठ करके उन्हीं के पास ठहर गया। एक दिन रात में कोई रानी, जिसका नाम वेणीमाधवदास ने कदंवलता लिखा है, गोसाईंजी के दर्शनों को आई। सत्यकाम ने रानी का मुँह अच्छी तरह देखने के उद्देश्य से दीए की बत्ती बढ़ा दी। उसकी इस कुचेष्टा से गोसाईंजी रुष्ट हुए और उन्होंने उसको वहुत डाँटा-फटकारा तथा अत्यंत उपकारी उपदेश भी दिया। सत्यकाम वहुत लज्जित हुआ। गोसाईंजी के उपदेश को सच्चे मन से सुनकर उसने अपने हृदय के विकार को दूर किया।

चित्रकूट से आप दिल्ली और अयोध्या होते हुए काशी के लिये प्रस्थित हुए। मार्ग में महावन पड़ा था। वहाँ आप अहीरों के टोले में वसे। वहाँ भगीरथ नाम के एक ग्वाले से आपका वड़ा प्रेम हो गया। उसे उन्होंने अपना शिष्य वना लिया। आगे चल-कर वह वड़ा सिद्ध संत हुआ।

अयोध्या में उन्हें भक्त हरिदास के सत्संग का सौभाग्य मिला। हरिदास को एक गीत वड़ा प्रिय था। भगवान् की प्रार्थना में वे इसी गीत को गाकर मस्त हो जाते थे। परंतु उसमें के शब्दों को वे अशुद्ध गाते थे। तुलसीदासजी ने अशुद्धि को सुधारकर उनसे आग्रह किया कि वे शुद्ध गाया करें। परंतु अभ्यास न होने के कारण उनसे शुद्ध रूप में गाते नहीं बनता था, जिससे उनके भजन में अड़चन पड़ने लगी। इस पर गोसाईंजी को रघुनाथजी ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि मैं शुद्धाशुद्ध की परवा नहीं करता; केवल भाव को देखता हूँ। भक्त के भजन में भंग न डालो; जैसा गाता है गाने दो। फिर हरिदासजी अपनी ही रुचि के अनुसार गाकर भजन में मग्न रहने लगे। अयोध्या ही में गोसाईंजी को महात्मा मुरारिदेव और उनके शिष्य मलूकदास भी मिले। वहाँ से आप

अपने आश्रम को लौट आए। अब गोसाईंजी की अवस्था भी बहुत हो गई थी। शरीर वृद्धावस्था से जर्जर हो गया था; इसलिये उन्होंने आगे कोई यात्रा न करने का विचार करके काशी में अखंड वास करने का निश्चय किया।

यद्यपि गोसाईंजी अयोध्या, चित्रकूट, सूकरखेत आदि स्थानों में समय समय पर रहे थे; पर उनका अधिक जीवन काशी में ही बीता। बाल्यकाल में १५ वर्ष तक उन्होंने यहाँ शेषसनातनजी से शिक्षा पाई। वृद्धावस्था में भी उन्होंने यहीं अखंड वास किया और यहीं उनका गोलोकवास हुआ। संवत् १६३३ के आस-पास से आपने काशी ही में अपना स्थायी आश्रम बना लिया था। इस संवत् के पीछे उन्होंने बड़ी बड़ी यात्राएँ भी कीं; पर घूम-फिरकर वे फिर काशी ही लौट आते थे। वेणीमाधवदास के लेख से बाल्यकाल में उनका पंचगंगा घाट पर रहना पाया जाता है।

विरक्तावस्था में जब गोसाईंजी ने काशी में स्थायी रूप से रहने का विचार किया तब सबसे पहले वे हनुमान फाटक पर रहे थे। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमंदिर में आए। यहाँ श्री मुकुंदरायजी के उद्यान के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, जो तुलसीदासजी की बैठक कहलाती है। यह अनुमान होता है कि यहाँ बैठकर गोसाईंजी ने सारी विनयपत्रिका नहीं तो उसका कुछ अंश तो अवश्य लिखा था; क्योंकि यह स्थान बिंदुमाधवजी के निकट है और पंचगंगा तथा बिंदुमाधव का वर्णन गोसाईंजी ने पूरा पूरा किया है। बिंदुमाधवजी के अंग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है, वह पुराने बिंदुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलता है। तुलसीदासजी की यह बैठक सदा बंद रहती है। झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं, केवल श्रावण शुक्ला ७ को खुलती है जब लोग जाकर पूजा कर सकते हैं।

प्रह्लादघाट और संकटमोचन पर भी गोसाईंजी रहे थे। प्रह्लाद-घाट पर उनके मित्र गंगाराम ज्योतिषी का घर था। उन्हीं के यहाँ ये रहते थे। इन्हीं गंगाराम की सहायता से गोसाईंजी ने नगवा के पास अस्सी नाले पर हनुमान की एक मूर्ति स्थापित की थी, जो संकट-मोचन के नाम से प्रसिद्ध हुई। मंदिर के बन जाने पर गोसाईंजी एकांत सेवन के उद्देश्य से वहाँ आकर रहने लगे। इन्हीं गंगाराम के वंशजों के यहाँ गोसाईंजी का एक प्राचीन चित्र है जिसकी नकल इस पुस्तक में दी गई है।

काशी में तुलसीदासजी का सबसे प्रसिद्ध स्थान अस्सीघाट के निकट है जो तुलसी-घाट के नाम से विख्यात हो गया है। यहां पर भी गोसाईंजी ने एक मंदिर बनवाकर हनुमानजी की मूर्ति स्थापित की थी। मंदिर के बाहर बीसायंत्र लिखा है जो पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है, जिसमें गोसाईंजी विशेष रहते थे। अंत में निरंतर बहुत वर्षों तक वे यहाँ रहे और यहीं उनका चोला छूटा।

उन्होंने अपने निवास-स्थान के विषय में अपनी सतसई में नीचे लिखा दोहा दिया है—

'रवि चंचल अरु ग्रहद्रव बीच सुवास विचारि।
तुलसिदास आसन करे अवनिसुता उर धारि॥'

अस्सी पर गोसाईंजी ने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ की थी। यद्यपि जनश्रुति है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाईंजी के पहले से होती थी; परंतु वर्तमान शैली की रामलीला गोसाईंजी के समय से ही आरंभ हुई। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और लीलाओं में विशेषता यह है कि और लीलाओं में खर-दूषण की सेना के राक्षस विमानों

पर चढ़ाकर निकाले जाते हैं; परंतु यहाँ पर राक्षस लोग राम-चरित-मानस के अनुसार भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इस लीला की लंका अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है। अस्सी घाट पर कार्तिक कृष्णा ५ को कालिय-दमन लीला भी बहुत सुंदर रीति से होती है जिसे गोसाईंजी ने ही आरंभ किया था। मैया भगत की लीला भी अब तक होती है। काशी में इस लीला का भरत-मिलाप बहुत प्रसिद्ध है। यह आश्विन शुक्ला एकादशी को संध्या के ठीक ५ बजे होती है। काशी में जितनी रामलीलाएँ होती हैं उन सब में भरत-मिलाप की यह लीला बड़ी प्रसिद्ध है। उस दिन सारा शहर उसे देखने जाता है। महाराज काशिराज भी उस दिन प्रायः प्रति-वर्ष आते हैं और विमान के पीछे पीछे उनका हाथी चलता है। कहते हैं कि एक बेर महाराज को यहाँ आने में कुछ विलंब हो गया; पर लीला ठीक समय पर हुई। इससे महाराज असंतुष्ट हो गए और रामनगर में एक नई लीला का उन्होंने आयोजन किया जो अब तक बड़े राजसी ठाट से होती है।

---

(८) साहित्यिक जीवन

पहुँचे हुए भक्त होने के साथ साथ गोसाईंजी कवि भी थे। यद्यपि अपने समय में, आरंभ में, अपनी अनन्य भक्ति के कारण उनकी ख्याति हुई थी, तथापि अपनी रचनाओं के कारण ही उनका अधिक नाम है। परंतु वे पहले भक्त थे और तब कवि। वे कवि पद के लिये कभी उतावले नहीं दिखाई देते। यद्यपि राम-भक्ति के संचय के लिये वे सदैव उतावले दिखाई देते हैं, भूत-प्रेत से लेकर स्वयं राम तक से यही माँगते फिरते हैं कि हमें राम की भक्ति दीजिए; परंतु कवित्व-शक्ति की प्राप्ति के लिये उन्होंने किसी देवता का इष्ट नहीं साधा। जोड़-तोड़ लगाकर कुछ भली सी उक्ति कह देनेवाले कवियों की भाँति उनमें 'कुछ लिखना चाहिए,' यह व्यग्रता नहीं उत्पन्न हुई। उनके हृदय ने जब तक उन्हें बाध्य नहीं कर दिया तब तक उन्होंने लिखा नहीं। यही कारण है कि वे भक्त तो युवावस्था में ही हो गए थे; परंतु रचयिता वृद्धावस्था में हुए। बेणीमाधव-दास के अनुसार १६१६ संवत् के पश्चात् उन्होंने कुछ लिखना आरंभ किया।

इस समय तुलसीदासजी चित्रकूट के पास कामद गिरि पर निवास करते थे। सूरदासजी वहाँ उनके दर्शनों के लिये आए थे। उन्होंने गोसाईंजी को अपना सूरसागर दिखाया जो उनको बहुत पसंद आया। उसमें के कुछ पद उन्होंने अपने एक गवैए शिष्य के लिये चुन दिए। उसी के आग्रह पर तुलसीदासजी राम तथा कृष्ण के चरित्र के संबंध के पद रचने लगे। उनका यह गायन-कला-प्रवीण शिष्य उन्हें कंठ कर लेता और उन्हें गाकर सुनाता।

कंठ करने के लिये प्रति दिन वह नए नए पद माँगता और बिना लिए मानता नहीं था, रूठ जाता था। इस प्रकार नित्य प्रति नवीन पदों की रचना होने लगी। इनमें से थोड़े से पद तो कृष्ण संबंधी थे और शेष राम संबंधी। गोसाईंजी राम के अनन्य भक्त थे, इससे यह स्वाभाविक ही था कि रामचरित्र संबंधी पद ही अधिक बनते। रामचंद्र के जीवन संबंधी जितने भावुक स्थल थे उन पर तुलसीदासजी ने पद बनाए। इस प्रकार प्रायः समस्त रामकथा पदों में हो गई। किसी किसी प्रसंग को तो तुलसीदासजी ने एक से अधिक पदों में कहा है। संवत् १६२८ में इन पदों का कृष्ण-गीतावली और राम-गीतावली के नाम से अलग अलग संग्रह किया गया।

कृष्ण-गीतावली में सब मिलाकर ६१ पद हैं, जिनमें से कुछ सूर-सागर के हैं। इसमें पूरी कृष्णलीला नहीं आ पाई है, इतने कम पदों में आ भी नहीं सकती थी। फिर भी यथाक्रम बालचरित्र, गोपी-उलाहना, ऊखल से बाँधना, इंद्रकोप, गोवर्द्धनधारण, छाकलीला, शोभावर्णन, गोपिका-प्रीति, मथुरागमन, गोपिका-विलाप, उद्धव-गोपी-संवाद, भ्रमरगीत और द्रौपदी-चीरवृद्धि, ये विषय आ गए हैं।

राम-गीतावली बड़ा मधुर गीतकाव्य है। इसमें तुलसीदासजी ने रामचरित्र के भावुक स्थलों का विशेष वर्णन किया है। पदों का संग्रह कथा-क्रम से हुआ है और रामचंद्र के जीवन की प्रायः सभी घटनाएँ आ गई हैं। परंतु कथा-प्रबंध के प्रवाह का निर्वाह नहीं किया गया है। कोई घटना तो एक से अधिक बार वर्णित है और कहीं पर कोई कथांश छूट गया है।

सूरदास चाहे तुलसीदास से मिलने आए हों या नहीं; परंतु इसमें संदेह नहीं कि गोसाईंजी को रामगीतावली और कृष्णगीतावली को लिखने की उत्तेजना सूरसागर ही को देखकर हुई होगी। ये दोनों ग्रंथ सूरसागर की शैली पर लिखे गए हैं और दोनों में कई

पद अक्षरशः सूरदास के हैं। उदाहरण के लिये सूरसागर के तीन पद नीचे दिए जाते हैं, जो रामगीतावली में भी मिलते हैं—

(१)

आँगन फिरत घुटुरुवन धाए।
नील जलद तनु सुभग स्याम मुख निरखि जननि दोउ निकट बुलाए ॥
बंधुक सुमन अरुन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
नूपुर कलरव मनों सुत-हंसन रचे नीड़ दै बाँह बसाए ॥
कटि किंकिनि, बर हार ग्रीव दर रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
वर श्रीवत्स मनोहर केहरि नखन मध्य मनिगन बहु लाए ॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका श्रवण कपोल माहिं सुठि भाए।
भ्रू सुंदर करुना रस पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जलजाए ॥
भाल बिसाल ललित लटकन वर बाल दसा के चिकुर सुहाए।
मानों गुरु सनि कुज आगे करि ससिहिं मिलन तम के गन आए ॥
उपमा एक अभूत भई जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मानों तड़ित दुराए ॥
अंग अंग प्रति मार निकर मिलि छवि समूह लै लै जनु छाए।
सूरदास सो क्यों करि बरनै जो छवि निगम नेति करि गाए ॥

यह पद गीतावली में भी ज्यों का त्यों है भेद केवल अंतिम चरण में है जो गीतावली में इस प्रकार है—

तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो बिधि होंहि बनाए।

(२)

हरिजू की बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज-सोभा हरनि ॥
भुज भुजंग सरोज नयननि बदनबिधु जित लरनि।
रहे बिवरन, सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि ॥

मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि।
मनहुँ सुभग-सिँगार-सिसु-तरु फर्‌यो अद्‌भुत फरनि॥
चलत पद प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवन करनि।
जलज संपुट सुभग छवि भरि लेति उर जनु धरनि॥
पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि कै नँद-घरनि।
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि॥

यह पद भी गीतावली में ज्यों का त्यों है। भेद इतना ही है कि 'हरिजू की', 'नंद-घरनि' और 'सूर' के स्थान पर क्रमशः 'रघु-बर', 'दसरथ घरनि' और 'तुलसी' शब्द हैं।

(३)

आँगनि खेलैं नंद के नंद। जदुकुल कुमुद सुखद चारु चंद॥
संग संग बल मोहन सोहैं। सिसु भूषन सबको मन मोहैं॥
तन दुति मोर चंद जिमि झलकै। उमगि उमगि अँग अँग छवि छलकै॥
कटि किंकिनि पग नूपुर बाजैं। पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं॥
कठुला कंठ बघनहा नीके। नयन सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन ललित ललाट लटूरी। दमकति द्वै द्वै दँतियाँ रूरी॥
मुनि-मन हरत मंजु मसि बिंदा। ललित बदन बलि बाल गोबिंदा॥
कुलही चित्र बिचित्र झँगूली। निरखि जसोदा रोहिनी फूली॥
गहि मनि खंभ डिंभ डगि डोलैं। कलबल बचन तोतरे बोलैं॥
निरखत छवि झाँकत प्रतिबिंबै। देत परम सुख पितु अरु अंबै॥
ब्रज जन देखन हिय हुलसाने। सूर स्याम महिमा को जाने॥

यह पद भी रामगीतावली में मिलता है। केवल प्रसंग के अनुकूल 'नंद के नंद' के स्थान पर 'अनंदकंद', 'निरखि जसोदा रोहिनी फूली' के स्थान पर 'निरखत मातु मुदित मन फूली' है और अंतिम चरण यों दिया है—'सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है।'

संभवतः तुलसीदासजी की रचनाओं में मिलनेवाले सूरदास के इन पदों को तुलसीदासजी ने गाने के लिये पसंद किया होगा और तुलसीदासजी को प्रिय होने के कारण आगे चलकर उनके शिष्यों ने उचित परिवर्तन के साथ उन्हें उनकी रचनाओं में मिला दिया होगा।

चित्रकूट पर्वत पर लिखे जाने के कारण रामगीतावली में उस पर्वत का जितना अधिक और अच्छा वर्णन हुआ है उतना गोसाईंजी ने और कहीं नहीं किया है।

वेणीमाधवदास ने लिखा है कि रामगीतावली के समाप्त हो जाने पर गोसाईंजी ने अयोध्या के लिये प्रस्थान किया। प्रयाग पहुँचकर उन्होंने गंगा के किनारे किनारे चलना आरंभ किया और वारिपुरा और दिगपुरा के बीच सीतामढ़ी में सीतावट के नीचे तीन दिन वास किया तथा कुछ सुंदर कवित्त बनाए। यह वाल्मीकिजी का आश्रम था। कहा जाता है कि रामचंद्र के द्वारा त्याग दिए जाने पर सीताजी इसी स्थान पर रहा करती थीं। इसी से इसका नाम सीतामढ़ी पड़ा। कवितावली में नीचे लिखे तीन कवित्त मिलते हैं जो इस समय के बनाए हुए कहे जा सकते हैं—

'जहाँ बालमीकि भए व्याध ते मुनींद साधु
मरा मरा जपे सुनि सिष रिषि सात की।
सीय को निवास लव-कुश को जनम-थल
तुलसी छुवत छाँह ताप गरै गात की॥
बिटप महीप सुर-सरित समीप सोहै
सीतावट पेखत पुनीत होत पातकी।
वारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि
अंकित जो जानकी चरन जलजात की॥ १॥
मरकत बरन परन, फल मानिक से,
लसै जटाजूट जनु रूख बेष हरु हैं।

सुखमा को ढेरु कैधौं सुकृती सुमेरु कैधौं,
संपदा सकल मुद मंगलु को घरु है॥
देत अभिमत जो समेत प्रीति सेइए,
प्रतीति मानि तुलसी विचारि काको थरु है।
सुरसरि निकट सोहावनि अवनि सोहै,
राम रमनि को बटु कलि काम तरु है॥ २॥
देवधुनी पास मुनि बास श्री निवास जहाँ
प्राकृतहूँ बट-बूट बसत त्रिपुरारि हैं।
जोग जप जाग को बिराग को पुनीत पीठ
रागिन पै सीठ डीठ बाहरी निहारिहैं॥
'आयसु,' 'आदेस', 'बाबा', 'भलो भलो', 'भाव सिद्ध'
तुलसी विचारि जोगी कहत पुकारिहैं।
सिय भगतन को तौ कामतरु तें अधिक,
सियबट सेए करतल फल चारि हैं॥ ३॥

परंतु इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सारी कवितावली की यहीं रचना हुई, क्योंकि तीन दिन में इतना बड़ा काव्य लिखा जाना असंभव है और हनुमान-बाहुक को छोड़कर भी कई पद ऐसे हैं जो स्पष्ट ही अन्यत्र लिखे गए होंगे। जैसे—

जहाँ बन पावनो सुहावनो विहंग मृग
देखि अति लागत आनंद खेत खूँट सो।
सीता राम लखन निवास, बास मुनिन को
सिद्ध साधु साधक सबै बिबेक बूट सो॥
झरना झरत झारि सीतल पुनीत बारि
मंदाकिनि मंजुल महेस जटाजूट सो।
तुलसी जौ राम सों सनेह चाहिए तौ
सेइए सनेह सों बिचित्र चित्रकूट सो॥'

यह और इसके आगे का कवित्त चित्रकूट में लिखा जान पड़ता है। और "देवसरि सेवौं वामदेव गाउँ रावरे ही नाम राम के ही माँगि उदर भरत हौं" वाला तथा अन्य कई कवित्त निश्चय ही काशी में बने हुए हैं। समय का तो इनमें और सीतावट वाले कवित्तों में बड़ा अंतर है। इनमें काशी में महामारी पड़ने का, गोसाईंजी की रुग्णावस्था का, मीन की सनीचरी का और रुद्रबीसी का वर्णन है।

'मारिए तो अनायास कासीवास खास फल,
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं।'
'बीसी विश्वनाथ की विषाद बड़ी बारानसी
बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की।'
'एक तो कराल काल सूल मूल तामें
कोढ़ में की खाज सनीचरी है मीन की।'

गणना से रुद्रबीसी १६६५ से १६८५ तक और मीन की सनीचरी १६६९ से १६७१ तक थी। इसी बीच ये कवित्त भी लिखे गए होंगे।

इससे पता चलता है कि कवितावली भी समय समय पर रचे गए कवित्तों का संग्रह है। हो सकता है कि पहले के छः कांड एक साथ ही रचे गए हों। परंतु उत्तरकांड तो अवश्य ही भिन्न भिन्न अवसरों पर रचे गए कवित्तों का संग्रह है। यदि जिस क्रम में उत्तरकांड के अंत में कवित्तों का संग्रह है उससे कवितावली के रचना-काल का कुछ पता चल सकता है तो वह यही कि कवितावली का कथा-भाग और सीतावट-विषयक कवित्त १६२८ और १६३१ के बीच में बनाए गए हैं और शेषांश १६६९ के पीछे।

कुछ लोगों का अनुमान है कि गोसाईंजी के 'भृंग' नामक एक शिष्य ने उनके फुटकल रामचरित्र संबंधी कवित्त सवैयों का कवित्त रामायण के नाम से संग्रह किया था। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में 'भृंग' का उल्लेख किया है और उसे १७०८ संवत् में

विद्यमान बताते हुए उसकी कविता के उदाहरण रूप में निम्नलिखित दो सवैए दिए हैं जो कवितावली में भी पाए जाते हैं—

जब नयनन प्रीति ठई ठग स्याम सों स्यानी सखी हठि हौं बरजी।
नहिं जान्यो वियोग सो रोग है आगे झुकी तब हौं, तेहि सौं तरजी॥
अब देह भई पट नेह के घाले सों, ब्यौंत करै बिरहा दरजी।
ब्रजराज कुमार बिना सुनु, भृंग! अनंग भयो जिय को गरजी॥ १३३॥
(उत्तर कांड)

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए॥
अरविंद सों आनन, रूप-मरंद, अनंदित लोचन-भृंग पिए।
मन मों न बस्यौ अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिए॥ १२॥
(बाल कांड)

सवैयों से तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि 'भृंग' कवि का नाम ही है; क्योंकि उसका पद्यांशों में सार्थक स्थान है। पहला भ्रमरगीत है; इसलिये भृंग (उद्धव) को संबोधन किया है और दूसरे में वह लोचन का उपमान है। फिर दूसरे सवैए में असंदिग्ध रूप से कवि का नाम तुलसी दिया हुआ है। शिवसिंह ने किस आधार पर इन्हें भृंग-रचित बताया है, नहीं कह सकते। परंतु कवितावली में ब्यौरेवार दशावतार का वर्णन, और यहाँ तक कि दो सवैयों में भ्रमरगीत का भी पाया जाना, कुछ तो अवश्य संकेत करता है कि रिक्त स्थान की पूर्ति किसी अन्य ने की है। गोसाईंजी ने यह समझकर थोड़े ही अपने कवित्तों को लिखा होगा कि ये एक ही स्थान पर रखे जायँगे। अतएव यदि शिवसिंह का कथन साधार माना जाय तो उनके शिष्य भृंग द्वारा उसके संगृहीत होने की पुष्टि होती है। हो सकता है कि उनके अन्य संग्रह-ग्रंथों का संग्रह भी 'भृंग' ने ही किया हो। और उसी के किए संग्रहों में पीछे से पंडित

रामगुलाम शर्मा आदि तुलसी-प्रेमियों ने फेर-फार करके उनको वह रूप दिया हो जिनमें उन्हें हम आज पाते हैं।

सीतामढ़ी से चलकर गोसाईंजी अयोध्यापुरी पहुँचे। वहाँ उन्होंने १६३१ में, जब कि लग्न, ग्रह और राशि का वही योग था जो रामचंद्रजी के जन्म के समय पड़ा था, रामचरितमानस की रचना आरंभ की। गोसाईंजी ने स्वयं भी लिखा है—

'संवत् सोरह सै इकतीसा।
करहुँ कथा हरि-पद धरि सीसा॥
नौमी भौम बार मधु मासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम-जन्म स्रुति गावहिं।'

× × ×

यह तो तुलसीदासजी ने स्वयं लिख दिया है कि अयोध्या में इस प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना आरंभ हुई थी, परंतु अंत में यह नहीं लिखा है कि कब और कहाँ यह समाप्त हुआ था। यह अनुमान किया जाता है कि गोसाईंजी ने अरण्यकांड तक तो उसे अयोध्या में लिखा और शेष अंश काशी में। इस अनुमान का आधार गोसाईंजी का नीचे लिखा सोरठा है जिसे उन्होंने किष्किंधाकांड के मंगला-चरण के रूप में दिया है—

'मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान-खानि अघ-हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइय कस न॥'

यद्यपि वेणीमाधवदास ने मूल-चरित में लिखा है कि संपूर्ण ग्रंथ की रचना अयोध्या में ही हुई और उन्होंने उसके समाप्त होने की तिथि तक दे दी है, फिर भी पूर्वोल्लिखित अनुमान ही ठीक जान पड़ता है, क्योंकि इस अनुमान के अतिरिक्त इस सोरठे का किष्किंधा कांड के आरंभ में दिए जाने का और कोई कारण नहीं जान पड़ता।

'सो कासी सेइअ कस न' इस बात की सूचना देता है कि उस समय गोसाईंजी काशी-सेवन कर रहे थे।

'मूल चरित' के अनुसार २ वर्ष ७ मास और २६ दिन में, संवत् १६३२ के मार्गशीर्ष मास मंगलवार को मध्याह्न में, यह ग्रंथ समाप्त हुआ। उस दिन वही तिथि थी जो रामचंद्र के विवाह के समय थी। राम-विवाह की तिथि मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी मानी जाती है। इस दिन अँगरेजी तारीख नवंबर २७ सन् १५७६ पड़ती है।

कहते हैं कि रामचरितमानस को नरों में से सबसे पहले सुनने का सौभाग्य जनकपुर के रूपारुण स्वामी को प्राप्त हुआ था। रूपारुण स्वामी जनक के समान ही परम विवेकी और ज्ञानवान् थे। वे उस समय अयोध्या आए हुए थे। गोसाईंजी ने स्वयं उन्हें रामचरित-मानस सुनाया था। फिर संडीले के स्वामी नंदलाल के शिष्य सुदासलाल ने गोसाईंजी की मूल प्रति से इसकी प्रतिलिपि की और संडीले जाकर अपने गुरु को उसे सुनाया। तदनंतर इन्हीं सुदास से तीन वर्ष तक यमुना के तट पर रसखान उसे सुनते रहे।

इस आधिकारिक ग्रंथ को भाषा में रचकर गोसाईंजी ने अपने लिये एक तूफान खड़ा कर दिया। ज्ञान को अपना एकाधिकार माननेवाले कलि के गुमाश्ते अहम्मन्य पंडितों में खलबली मच गई। उन्होंने सोचा कि सब रहस्यों को खोलनेवाले इस ग्रंथ को पढ़कर अब गँवार भी ज्ञानी हो जा सकेंगे। हमें कोई भी न पूछेगा। इस-लिये उन्होंने गोसाईंजी का विरोध करना आरंभ किया। ग्रंथ को चुराकर नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। गोसाईंजी के प्राण लेने के प्रयत्न हुए, परंतु किसी बात में भी उनके विरोधियों को सफलता न हुई। उनके विरोध से उनकी और उनकी रचना की कीर्ति और भी फैलने लगी। गोसाईंजी की निंदा करके विरोधी दल ने इस

ग्रंथ के प्रचार में बाधा डालने में प्रसिद्ध संन्यासी मधुसूदन सरस्वती का सहकार चाहा। मधुसूदन सरस्वती बड़े निष्पक्ष और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने कहा कि जब तक मैं स्वयं रामचरितमानस को न देख लूँ तब तक इस संबंध में कोई मत नहीं दे सकता हूँ। उन्होंने जब उस ग्रंथ-रत्न को मँगाकर पढ़ा तब उनके आनंद का ठिकाना न रहा। विरोधी दल इस आशा से उनके पास आया था कि वे रामचरितमानस को धर्म-ग्रंथों की कोटि में न रखे जाने की व्यवस्था देंगे। परंतु उन्होंने उन लोगों को यह कहकर निराश कर दिया कि इसमें सभी धर्मशास्त्रों का निचोड़ आ गया है। साथ ही तुलसीदासजी की प्रशंसा में यह श्लोक भी उन्होंने लिख भेजा—

'आनंदकानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥'

काशीनरेश ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह ने इसका अनुवाद यों किया है—

'तुलसी जंगम तरु लसै, आनँद कानन खेत।
कविता जाकी मंजरी, राम भ्रमर रस लेत॥'

जब गुमाश्तों के किए कुछ न हुआ तब उनके अन्नदाता स्वयं कलि महाराज गोसाईंजी को त्रास दिखलाने आए। राम-चरित के सब के लिये सुलभ हो जाने पर कलि का प्रभाव घटने लगा, क्योंकि लोग रामचरितमानस को पढ़कर पुण्यवान् होने लगे। कहते हैं, एक दिन रात्रि को वह कृपाण लेकर आया और गोसाईंजी को डराने लगा। उसने कहा कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो रामचरितमानस की पोथी को गंगाजी में डुबो दो, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है। यह चेतावनी देकर जब कलि चला गया तब गोसाईंजी ने हनुमानजी का स्मरण किया और उनसे फर्याद की। हनुमानजी ने कहा कि इस समय राज्य ही कलि का है, इसलिये बिना प्रभु की आज्ञा के हम उससे कुछ भी नहीं कह सकते।

अच्छा हो कि तुम एक विनयावली लिखो। उसे हम रामजी के पास पहुँचा देंगे और कलि को दंड देने की स्वीकृति माँग लेंगे।

कहते हैं कि हनुमानजी के इसी आदेश के अनुसार और इसी उद्देश्य से गोसाईंजी ने विनयपत्रिका की रचना की। इस किंवदंती के चल पड़ने के लिये विनय-पत्रिका में ही पर्याप्त सामग्री है। कथानक के अतिरंजित रूप को छोड़कर यदि हम वास्तविकता पर आवें तो हमें इसमें कोई संदेह न रहेगा कि कलिकाल की कुचालों से तंग आकर ही अर्जी के रूप में विनय-पत्रिका की रचना की गई थी। सारी विनय-पत्रिका इसका प्रमाण है।

'ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले।
साहेब कहूँ न राम से, तो से न वसीले॥
तेरे देखत सिंह को सिसु मेढ़ लीले।
जानत हौं कलि तेरोऊ मन गुनगन कीले॥
हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले।
सो बल गयो, किधौं भए अब गर्ब-गहीले॥
सेवक को परदा फटै, तू समरथ सीले।
अधिक आपु तें आपनों सुनि मान सहीले॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले॥'

इस पद से यह बात स्पष्ट है कि कलिकाल की ही कुचालों से त्रस्त होकर तुलसीदासजी ने विनय-पत्रिका लिखी थी।

विनय-पत्रिका बिल्कुल अर्जी के ढंग पर लिखा हुआ ग्रंथ है। कोई सेवक सीधे महाप्रभु के पास अपनी फर्याद नहीं भेज सकता। ऐसा करने से मर्यादा भंग होती है। अपने से ऊपर के सभी पदाधिकारियों की दृष्टि से होकर उसे जाना पड़ता है। अर्जी 'थ्रू प्रॉपर चैनेल' जानी चाहिए। इसी लिये गोसाईंजी बीच

के सभी देवताओं की प्रार्थना करते हुए चलते हैं। गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती, भैरव, गंगा, यमुना, काशी के क्षेत्रपाल, चित्रकूट, हनुमान, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सीता सभी देवताओं और देवस्थानों की वंदना करके तब वे रामचंद्रजी की प्रार्थना करते हैं। और देवताओं से यही प्रार्थना की गई है कि रामचंद्रजी के चरणों में मेरी भक्ति हो। काशी के तो प्रायः सभी देवताओं के और देवस्थानों के नाम इसमें आ गए हैं। मणिकर्णिका, पंचगंगा, बिंदुमाधव, विश्वनाथ, दंडपाणि भैरव, त्रिलोचन, कर्णघंटा, पंचक्रोश, अन्नपूर्णा, केशवदेव आदि का इसमें बहुत उल्लेख मिलता है। यह इसलिये कि विशेषकर काशी में ही इस ग्रंथ का प्रणयन हुआ है। कलि-काल के प्रभाव को दूर करने के लिये अन्य देवताओं और अन्य स्थानों का, जिनका गोसाईंजी ने सेवन किया था, स्मरण करना स्वाभाविक ही है। या यह भी हो सकता है कि उन उन देवस्थानों में पहले ही तुलसीदासजी ने तत्संबंधी पदों को बना लिया हो और अब उन्हें विनय-पत्रिका में रखने के योग्य समझकर उनका उसमें समावेश कर लिया हो। संभवतः आगे चलकर भी जो विनय के पद तुलसीदासजी ने बनाए वे इसमें सम्मिलित कर लिए गए। उदाहरण के लिये—

'कटु कहिए गाढ़े परे सुनु समुझि सुसाईं।
करहिं अनभले को भलो आपनी भलाई॥
समरथ शुभ जो पावई, पीर, पीर, पराई।
ताहि तर्क सब ज्यों नदी बारिधि न बुलाई॥
अपने अपने को भलो चहैं लोग लुगाई।
भावै जो जेहि तेहि भजै सुभ असुभ सगाई॥
बाँह बोल दै थापिए जो निज बरियाई।
बिन सेवा सो पालिए सेवक की नाईं॥

चुक चपलता मेरे ऐ, तू बड़ो बड़ो बड़ाई।
होत आदरे दीठ हौं अति नीच निचाई॥
बंदि छोर विरुदावली निगमागम गाई।
नीको तुलसीदास को तेरि ही निकाई॥'

यह पद बहुत बाद का कहा जाता है, जब गोसाईंजी को बादशाह ने दिल्ली बुलाकर करामात न दिखाने पर बंदी किया था। उस समय हनुमानजी ने ही बंदरों से उत्पात कराके उनको बंदी से मुक्त कराया था। परंतु मूल चरित के अनुसार गोसाईंजी ने संवत् १६२० के पीछे अयोध्या जाते हुए मार्ग में चुनारगढ़ के किसी राजा को भी कैद से छुड़वाया था। संभवतः इस पद में **बंदि छोर** कहने से उस घटना की ही ओर संकेत हो।

जैसे कि अन्यत्र दिखाया गया है, कवितावली के ही समान, इस ग्रंथ में भी कुछ ऐसे पद हैं जिनसे उनके अपने जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

नीचे के सब कर्मचारियों से होते हुए अर्जी महाराज के सामने पेश होने को जाती है; वह भी सधे हुए लोगों द्वारा जो अवसर अनवसर का ठीक ठीक ज्ञान रखते हैं। अंतिम पद में इस दृश्य की गोसाईंजी ने बड़ी अच्छी कल्पना की है। श्रीरामचंद्रजी को प्रसन्न देखकर हनुमान और भरत लक्ष्मण के लिये इशारा करते हैं। वे बड़े अदब से इस कैफियत के साथ अर्जी को पेश करते हैं कि कलिकाल में भी इस सेवक (तुलसीदास) ने आपके नाम से प्रीति और विश्वास का निर्वाह किया है। और सभासद भी इस बात का अनुमोदन करते हैं। सीताजी की भी यह प्रार्थना गोसाईंजी ने व्यर्थ नहीं की थी—

'कबहुँ अंब सुअवसर पाइ।
मेरिओ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥
जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ।'

उन्होंने पहले ही से महाराज से तुलसीदास की सिफारिश कर रखी थी। अंत में यह कहकर कि 'ठीक है, मुझे भी इसकी खबर है' महाराज भी प्रार्थनापत्र पर अपनी स्वीकृति लिख देते हैं—

'मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहुँ नाथ नाम सों परतीति प्रीति किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब नेवाज की देखत गरीब की साँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यौ सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ की सही है॥'

'मूल चरित' के अनुसार गोसाईंजी ने रामचरितमानस के अनंतर विनय-पत्रिका ही लिखी। इसकी रचना करने के अनंतर शीघ्र ही वे मिथिला चले जाते हैं, और मिथिला से लौटकर संवत १६४० में काशी आते हैं। 'मिथिला तें काशी गए संवत् चालिस लाग।' यदि एक वर्ष भी इस यात्रा में लगा मानें तो १६३९ में वे काशी से मिथिला के लिये चले होंगे। अतएव १६३६ और १६३९ के बीच में किसी समय विनय-पत्रिका बनी होगी।

वैराग्य-संदीपनी भी इसी समय का रचा हुआ ग्रंथ जान पड़ता है। उसमें गोसाईंजी अपने मन को क्रोधादिक से दूर रखकर शांत रखने के लिये प्रबोधन करते दिखाई जान पड़ते हैं। बार बार वे अपने मन को राग-द्वेष से अलग रखने को कहते हैं और शांति की महिमा गाते हैं—

'सोइ पंडित सोइ पारखी सोई संत सुजान।
सोई सूर सचेत सो सोई सुभट प्रमान॥
सोइ ज्ञानी सोइ गुनी जन सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई राग द्वेष की हानि॥'

तुलसीदासजी के हृदय में राग-द्वेष की सबसे अधिक संभावना उस समय थी जिस समय उनके रामचरितमानस के विरुद्ध काशी में एक बवंडर सा उठ रहा था और पंडित लोग उनको कई प्रकार से नीचा दिखाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि उत्तेजना का अवसर होने पर भी वे उत्तेजित नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने इस समय भी अपने प्रभु का सहारा न छोड़ा—

'फिरी दोहाई राम की गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रवि के उदय तुरत जात तम लाजि॥'

इसमें तो संदेह नहीं कि वैराग्य-संदीपनी दोहावली के संगृहीत होने से पहले बनी, क्योंकि वैराग्य-संदीपनी के कई दोहे दोहावली में संगृहीत हैं। इस बात की आशंका नहीं की जा सकती है कि दोहावली ही से वैराग्य-संदीपनी में दोहे लिए गए हों; क्योंकि वैराग्य-संदीपनी एक स्वतंत्र ग्रंथ है और दोहावली स्पष्ट ही संग्रह ग्रंथ। दोहावली का संग्रह १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रंथ १६४० से पहले ही बन चुका होगा। जैसा ऊपर देख चुके हैं, हमें इसे विनय-पत्रिका के साथ साथ का बना मानने का भी कारण विद्यमान है। कलिकाल की जिस कुचाल के विरुद्ध राम को उद्दिष्ट कर विनय-पत्रिका लिखी गई उसी के विरुद्ध अपने मन को दृढ़ करने के लिये आत्मोपदेश के रूप में वैराग्य-संदीपनी भी रची गई।

संवत् १६४० में तुलसीदासजी ने अपने भिन्न ग्रंथों से दोहावली का संग्रह किया।

'मिथिला ते काशी गए चालिस संवत लाग।
दोहावलि संग्रह किए सहित विमल अनुराग॥'

इसके दो वर्ष पीछे गोसाईजी ने सतसई का प्रणयन आरंभ किया। सतसई की रचना का काल उन्होंने स्वयं दे दिया है—

'अहि-रसना (२) धन-धेनु (४) रस (६) गनपति द्विज (१) गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार॥'

'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार इनको उलटा गिनने से संवत् १६४२ निकलता है। सीता की जन्मतिथि वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की नवमी मानी जाती है। इस प्रकार सतसई की रचना संवत् १६४२ वैशाख सुदी ९ गुरुवार को हुई। वेणीमाधवदास ने भी लिखा है—

'माधव सित सिय जन्मतिथि ब्यालिस संवत् पाँच।
सतसैया बरनै लगे, प्रेम-वारि ते सींच॥'

तुलसी-सतसई एक संग्रह ग्रंथ भर नहीं है। अधिकांश दोहे इसके ऐसे हैं जो और किसी ग्रंथ में नहीं मिलते। एक सौ से अधिक दोहे दोहावली और सतसई दोनों में एक ही हैं। सतसई को गोसाईंजी ने सात सर्गों में विभक्त किया है। पहले सर्ग में भक्ति, दूसरे में उपासना पराभक्ति, तीसरे में सांकेतिक वक्रोक्ति से राम-भजन, चौथे में आत्म-बोध, पाँचवें में कर्म-सिद्धांत, छठे में ज्ञान-सिद्धांत और सातवें में राजनीति का निरूपण है।

कुछ विद्वानों को इस ग्रंथ के तुलसी-कृत होने में संदेह है, जिनमें पंडित रामगुलाम शर्मा और महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी प्रधान हैं। सुधाकरजी ने तो इसके रचयिता पद के लिये गाजीपुर-निवासी किसी तुलसी कायस्थ को ढूँढ़ निकाला था, क्योंकि इसमें मकरी के लिये गाजीपुरी शब्द कना आया है और कई छंद ज्योतिष से संबंध रखते हैं। ऐसे तो कोई साहब 'गनी गरीब' कहने से तुलसी-दास को ईरान ले पहुँचेंगे और ज्योतिष संबंधी दोहों के आधार पर किसी तुलसी जोशी (ज्योतिषी) की भी कल्पना कर डालेंगे। इस संदेह के दो और भी प्रधान कारण बताए जाते हैं, एक तो यह कि इसमें कूट रचना बहुत है, दूसरे इसमें और ग्रंथों के समान

रामभक्ति की नहीं, जानकी-भक्ति की प्रधानता है। परंतु इनमें कोई सार नहीं दीखता। जैसा गोसाईंजी की कला वाले अध्याय में दिखाया जायगा, गोसाईंजी ने हिंदी में प्रचलित सभी ढंग की रचनाओं में अपना कौशल दिखलाया है। कूट को ही वे क्यों छोड़ते? फिर जो लोग सतसई को उनकी नहीं मानते वे दोहावली को उनकी मानते हैं, यद्यपि दोहावली भी कूटों से खाली नहीं है। जानकी-भक्ति की प्रधानता देखकर भी इस परिणाम की ओर उतावली से दौड़ नहीं लगानी चाहिए कि यह गोसाईंजी-कृत ग्रंथ नहीं है। १६३९-४० की उनकी जनकपुर-यात्रा ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी भावना का झुकाव इस समय जानकीजी की ओर अधिक हो रहा था। वेणीमाधवदास ने जानकीजी के हाथ की खीर तक गोसाईंजी को खिलाई है। फिर जानकी-भक्ति से राम-विरोध तो प्रकट नहीं होता। इस ग्रंथ में जो मत प्रकट किया गया है वह भी अन्य ग्रंथों से विरोध करता नहीं दिखाई देता। अतएव हमें इसे तुलसीकृत मानने में कोई अड़चन नहीं दिखाई देती।

पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामलला-नहछू एक ही समय के लिखे हुए ग्रंथ जान पड़ते हैं। इनकी शैली और भाषा एक ही प्रकार की है। पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल तो बिलकुल एक ही ढाँचे में ढाले गए से लगते हैं। वही छंद, वही क्रम, यहाँ तक कि मंगलाचरण का भी एक ही भाव है—

पार्वती-मंगल—बिनइ गुरुहिं गुनि गनहिं गिरिहिं गननाथहिं।

जानकी-मंगल—गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।

पार्वती-मंगल—गावउँ गौरि गिरीस बिवाह सुहावन।

जानकी-मंगल—सिय रघुबीर बिवाह यथामति गावउँ।

वेणीमाधवदास के अनुसार इनकी रचना मिथिला में हुई—

'मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोय।
पुनि प्राचें संग्रित किए, सुख पावें सब लोय॥'

इन ग्रंथों का उल्लेख मूल चरित में संवत् १६६९ की घटनाओं के साथ किया गया है। परंतु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि १६६९ में गोसाईंजी ने इनकी रचना की। यहाँ उनकी पहली यात्रा से ही वेणीमाधवदास का तात्पर्य है। संवत् १६६९ में तो गोसाईंजी ने उन्हें केवल अभिमंत्रित किया जिससे वे विवाह आदि के अवसर पर गाए जाकर मंगलकारी सिद्ध हों। १६७० के आरंभ में गोसाईंजी इतने निर्बल हो गए थे कि जब पहले के बने हुए छोटे छोटे ग्रंथों का फिर से संशोधन किया तो उन्हें दूसरों से लिखवाना पड़ा। ऐसी अवस्था में यह समझना कि उन्होंने इससे थोड़े ही समय पहले मिथिला-यात्रा की हो, यह संभाव्य नहीं जान पड़ता। वास्तव में उस समय गोसाईंजी अखंड काशी-वास कर रहे थे। पहली मिथिला-यात्रा गोसाईंजी ने संवत् १६४० से पहले की थी। १६४० में वे मिथिला से काशी लौट आए थे। इससे मूल चरित के अनुसार इन तीन ग्रंथों की रचना का काल सं० १६३९ के लगभग ठहरता है। परंतु स्वयं गोसाईंजी के कथन से इस बात का खंडन हो जाता है। गोसाईंजी ने जानकी-मंगल और नहछू का समय तो नहीं दिया है, परंतु पार्वती मंगल का समय दे दिया है। इस ग्रंथ के आरंभ में लिखा है—

जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥

इसके अनुसार तुलसीदासजी ने इसे जय संवत् फागुन सुदी ५ गुरुवार को अश्विनी नक्षत्र में बनाया। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी की गणना से जय संवत् १६४३ में पड़ता है। अतः ये तीनों ग्रंथ १६४३ के लगभग बनाए गए होंगे। पार्वती-

मंगल में १४८ तुक सोहर और १६ छंदों में शिव-पार्वती के विवाह का बड़ा रमणीक वर्णन है। जानकी-मंगल में, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, सीता-राम के विवाह की कथा है। रामलला-नहछू सोहर छंद के बीस तुकों का छोटा सा ग्रंथ है। भारतवर्ष के पूर्वीय प्रांत में अवध से लेकर बिहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू कराने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छंद है जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर गाती हैं। पंडित रामगुलाम द्विवेदी का मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। संयुक्त प्रदेश, मिथिला आदि प्रांतों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचंद्रजी का विवाह अकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसलिये विवाह में नहछू नहीं हुआ। गोसाईंजी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गंदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिये बनाया है। उनका मतलब रामविवाह ही से है। कथा-प्रसंग के पूर्वापर संबंध की रक्षा का ध्यान इसी लिये उसमें नहीं किया गया है।

रामाज्ञा शकुनावली भी तुलसीदासजी की बनाई हुई कही जाती है। इस ग्रंथ में राम-कथा के प्रसंगों में शकुन विचारा गया है। डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने लेख 'नोट्स ओान तुलसीदास' में बाबू रामदीनसिंह के कथन के आधार पर इस ग्रंथ की रचना के विषय में एक कहानी लिखी है। वे लिखते हैं कि काशी में राज-घाट के राजा एक गहरवार क्षत्रिय थे, जिनके वंशज अब मांडा और कंतित के राजा हैं। उनके कुमार शिकार खेलने वन में गए। उनके साथ के किसी आदमी को बाघ खा गया। राजा को समाचार मिला कि उन्हीं के राजकुमार मारे गए। राजा ने घबराकर प्रह्लाद घाट पर रहनेवाले प्रसिद्ध ज्योतिषी गंगाराम को बुलाकर प्रश्न

किया। साथ ही यह भी कह दिया कि यदि आपकी बात सच निक-लेगी तो एक लाख रुपया पारितोषिक मिलेगा; नहीं तो सिर काट लिया जायगा। गंगाराम एक दिन का समय लेकर घर आए और उदास बैठे रहे। कोई उपाय सोचते न बना। तुलसीदास और गंगाराम में बड़ा स्नेह था। ये दोनों मित्र नित्य प्रति संध्या समय नाव पर बैठकर गंगा पार जाया करते थे और वहाँ भगवदुपासना में मग्न होते थे। नित्य के अनुसार उस दिन भी तुलसीदासजी ने चलने को कहा पर उदासी के मारे गंगाराम ने जाने से अनिच्छा प्रकट की। तुलसीदासजी ने जब कारण सुना तब कहा कि घबराओ नहीं, मैं इसका उपाय कर दूँगा। निदान उपासना से छुट्टी पाकर लौट आने पर तुलसीदासजी ने लिखने की सामग्री माँगी। कागज तो मिला पर कलम दवात न मिली। तब उन्होंने सरकंडे का एक टुकड़ा लेकर कत्थे से लिखना आरंभ किया और छः घंटे में बिना रुके हुए लिखकर इस रामाज्ञा को पूरा कर दिया। ज्योतिषीजी ने इसके अनुसार प्रश्न का फल विचारकर जाना कि राजकुमार कल संध्या को घड़ी दिन रहते कुशलपूर्वक लौट आवेंगे। सवेरे आकर उन्होंने राजा से यह बात कही। राजा ने उन्हें संध्या तक कैद रखा। ज्योतिषी के बतलाए हुए ठीक समय पर राजकुमार लौट आए और उनको प्रतिज्ञानुसार लाख रुपए मिले। ज्योतिषीजी ने सारी पूँजी गोसाईंजी के चरणों पर अर्पित कर दी, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। पर जब ज्योतिषी ने बड़ा आग्रह किया तब उसमें से बारह हजार रुपए लेकर उन्होंने हनुमानजी के बारह मंदिर बनवा दिए, जो अब तक हैं, क्योंकि यह हनुमानजी की ही कृपा थी कि गाढ़े समय में उनकी आन रह जाती थी। इन सब मंदिरों में यह विशेषता है कि इनमें हनुमानजी की मूर्ति दक्षिणमुखी है। हमारी समझ में यह कहानी भर है जिसकी जड़ प्रथम सर्ग का यह उनचासवाँ दोहा है—

'सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गो-गन गंगाराम॥'

यह कथा वास्तव में सच नहीं जँचती। उस समय राजघाट का किला ध्वंस हो चुका था। महमूद गजनवी के सेनानायक सैयद सालार मसऊद (गाजी मियाँ) की लड़ाई में यह किला टूट चुका था। मुसलमानी समय में यहाँ के चकलेदार मुसलमान होते थे। अंतिम चकलेदार मीर रुस्तम अली थे, जो दशाश्वमेध के पास मीर-घाट पर रहते थे और जिनको वर्तमान काशिराज के वंश के संस्थापक मनसाराम ने भगाकर काशी का राज्य लिया था।

पर चाहे गोसाईंजी ने इस ग्रंथ को किसी के अनुरोध से बनाया हो या अपनी ही इच्छा से, इस बात में संदेह नहीं कि यह शकुन विचारने के उद्देश्य से लिखा गया है। इसके दोहों में बराबर शकुन विचारा गया है और अंत में शकुन विचारने की विधि भी दी है—

'सुदिन साँझ पोथी नेवति पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन विचारब चारुमति सादर सत्य सनेम॥
सुनि गनि दिन गनि धातु गनि दोहा देखि विचारि।
देस, करम, करता, बचन सगुन समय अनुहारि॥'

यह ग्रंथ प्रह्लाद घाट पर एक ब्राह्मण के यहाँ था। इसकी नकल प्रसिद्ध रामायणी लाला छक्कनलाल मिरजापुरवाले ने संवत् १८८४ में की थी। मूल ग्रंथ संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवार का लिखा हुआ था और कत्थे के ऐसे रंग से लिखा सा जान पड़ता था। इससे यही कहा जा सकता है कि यही गोसाईंजी के हाथ की लिखी मूल प्रति रही होगी। इसको और भी बहुत से लोगों ने देखा था परंतु दुर्भाग्यवश अब वह चोरी हो गई है।

जो पहले के बनाए दोहे किसी प्रकार के शकुन के द्योतक हो सकते थे उनको भी गोसाईंजी ने इस ग्रंथ में रखा है। विशेषकर दोहावली के दोहे इसमें बहुत हैं। इसके सातवें अध्याय का २१ वाँ दोहा—

'राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥'

वैराग्य-संदीपनी और दोहावली दोनों का पहला दोहा है। और ग्रंथों से जो दोहे इसमें लिए गए हैं उनकी एक सूची डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने "नोट्स ऑन तुलसी" में दी है।

रामाज्ञाशकुनावली गोसाईंजी ने संवत् १६५५ में रची। इस संवत् के पहले और पीछे १२, १४ वर्ष का ऐसा काल पड़ता है जिसके बीच के लिखे हुए तुलसीदासजी के कोई ग्रंथ नहीं मिलते। यह तो संभव नहीं है कि उन्होंने इन २५, ३० वर्षों के भीतर रामाज्ञा-शकुनावली को छोड़कर और कुछ न लिखा हो। एक बार जब कवि की अमंद प्रभा देदीप्यमान हो उठती है तब उसकी किरणें फिर प्रायः यों ही अपने में सिमिट नहीं जातीं। इस बीच में गोसाईंजी बहुधा पर्यटन ही करते रहे। इससे किसी बड़े ग्रंथ के रचने का अवकाश तो मिल नहीं सकता था। परंतु यह संभव है कि अवसर अवसर पर गोसाईंजी ने फुटकर पद, कवित्त, अथवा दोहे कहे हों जो आगे चलकर यथानुकूल गीतावली, विनयपत्रिका अथवा कवितावली में मिला लिए गए हों। यह भी हो सकता है कि उनके ग्रंथों की रचना ठीक इस क्रम से न हुई हो जिस क्रम से हमने माना है और वे उनके संपूर्ण रचना-काल में फैले हों, जिससे इस प्रकार का अंतर बीच में न रहा हो।

और जो कुछ हो परंतु इतना निश्चय है कि उनकी प्रतिभा बिलकुल सो नहीं गई थी, क्योंकि उन्होंने इस २५ वर्ष के अंतर के

अंत में संवत् १६६६ में हिंदी-साहित्य को एक अमूल्य रत्न भेंट किया जिसकी परख बड़े जौहरी ही कर सकते हैं। यह रत्न बरवै रामायण है। बरवै एक छोटा सा छंद है। पूर्वी अवधी में यह बहुत ही बढ़िया बनता है। कहते हैं कि खानखाना ने अपने मुंशी की स्त्री के बनाए हुए एक बरवै को देखकर उसे बड़ा पसंद किया और स्वयं बरवै छंद में बहुत रचना की तथा इस छंद के प्रचार का भी प्रयास किया। उनका नायिका-भेद बरवै छंद में ही है। इसके अतिरिक्त भक्तिरस का भी बरवै नाम का उनका एक छोटा सा ग्रंथ मिलता है। अपने मित्रों से भी उन्होंने बरवै लिखने का आग्रह किया होगा। तुलसीदासजी की बरवै रामायण उन्हीं के आग्रह का परिणाम कही जाती है। वेणीमाधवदास ने मूल चरित में लिखा है कि संवत् १६६६ में रहीम ने गोसाईंजी के पास बरवै रचकर भेजे। उस छंद को पसंद कर स्वयं गोसाईंजी ने भी उनमें रचना की। इससे ऊपर लिखी किंवदंती की पुष्टि होती है। नायिका-भेद के बरवै तो रहीम ने गोसाईंजी के पास क्या भेजे होंगे। विषय के कारण उन्हें वे पसंद न करते। भक्ति-संबंधी बरवै ही भेजे होंगे। उन्हीं को देखकर गोसाईंजी को बरवै छंद में रामचरित कहने की इच्छा हुई होगी।

पंडित शिवलाल पाठक कहा करते थे कि गोसाईंजी की बरवै रामायण बहुत भारी रचना है। पर इधर आजकल जो बरवै रामायण मिलती है वह मूल ग्रंथ का कुछ ही अंश है और इतनी छिन्न-भिन्न है कि उससे एक संपूर्ण ग्रंथ का सा आभास नहीं मिलता। उसे पढ़कर कुछ ऐसा भास होता है मानों यह अवसर अवसर पर बने फुटकर पदों का संग्रह हो। उसमें मंगलाचरण का न होना भी इस बात की ही सूचना देता जान पड़ता है कि ग्रंथरूप में इसकी रचना नहीं हुई थी। यही दशा रामचरितमानस को छोड़

और सभी रामायणों की है। परंतु शिवलाल पाठक का कथन भी बिल्कुल असंगत नहीं जान पड़ता। अतएव निश्चित रूप से इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस ग्रंथ की रचना बड़ी मनोहारिणी हुई है। यदि शिवलालजी का कथन सत्य हो और पूरा ग्रंथ मिल जाय तो संभवतः कला-चमत्कार की दृष्टि से इसी को गोसाईंजी के ग्रंथों में सर्वोच्च स्थान मिले।

गोसाईंजी की यही अंतिम महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके पीछे भी गोसाईंजी समय समय पर अवसर के अनुसार कुछ न कुछ कहते रहे परंतु वे प्रत्यक्ष ही उतने अच्छे नहीं बने। बाद की रचनाओं में, जो और रचनाओं से स्पष्ट अलग की जा सकती हैं, प्रधान हनुमानबाहुक है, जिसमें उन्होंने बाहु-पीड़ा से पीड़ित होकर हनुमानजी की स्तुति की है। बहुत से लोगों को इसके गोसाईंजी द्वारा रचित होने में भी संदेह है। कदाचित् इसी कारण कि वह इतना अच्छा नहीं बन पड़ा है जितनी उनकी और रचनाएँ। मरते दम तक उनकी वाणी राम का स्मरण करती रही। मौत की घड़ी निकट देखकर उन्होंने संवत् १६८० में कहा था—

'रामचंद्र जस बरनिकै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सौन ॥'

यह गोसाईंजी की अंतिम रचना है जो पीछे से उनकी सतसई में सम्मिलित कर ली गई।

---

(९) मित्र और परिचित

गोसाईं तुलसीदास अपने समय के बहुत प्रसिद्ध महात्मा हुए। उनकी प्रसिद्धि उन्हीं के जीवन-काल में हो गई थी। मूल गोसाईं-चरित के अनुसार उनकी उतनी प्रसिद्धि उनकी रचनाओं के कारण नहीं हुई, जितनी उनकी एकांत भगवद्भक्ति और ऊँची लगन के कारण। जब वे अभी रामचरितमानस के रचयिता भी नहीं हुए थे तभी से छोटे बड़े सभी लोग उनके दर्शनों अथवा उनके आशीर्वादों के अभिलाषी होने लगे थे।

इसमें तो संदेह नहीं कि गोसाईंजी ऐसे प्रसिद्ध महात्मा के परिचित जनों की परिधि बहुत विस्तीर्ण रही होगी। गोसाईंजी के कई सत्संगियों के नाम प्रसंगवश पहले आ चुके हैं। अपने काल के प्रायः सभी साधु-महात्माओं से उनका परिचय रहा होगा। वेणी-माधवदास ने भी यही दिखलाया है। परंतु जिस ढंग से वेणीमाधव-दास ने इस परिचय का उदय बताया है वह अतिरंजित है, उसमें अपने गुरु की महत्ता को बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। गोसाईंजी स्वयं किसी से मिलने नहीं जाते। जो आता है उन्हीं के दर्शनों के लिये आता है। जो बेचारे वृद्धावस्था के कारण भ्रमण के अयोग्य थे तथा अन्य कारणों से स्वयं दर्शनों के लिये नहीं आ सकते थे उन्हें पत्रों द्वारा गोसाईंजी की कृपा का प्रार्थी होना पड़ा। वृद्ध हित-हरिवंशजी से उनके शिष्य नवलदास द्वारा गोसाईंजी के पास पत्र और उनकी रचनाएँ यमुनाष्टक, राधिकातंत्र और राधासुधानिधि भिजवाई गई हैं। पत्र में हितहरिवंशजी से यह प्रार्थना कराई गई है कि महारास की शरत्-पूर्णिमा आनेवाली है। उस समय में शरीर

त्याग करना चाहता हूँ। आशीर्वाद दीजिए कि मैं श्री-निकुंज में प्रवेश कर सकूँ। परंतु यह नहीं समझ में आता कि ऐसे इच्छा-मृत्यु अथवा भविष्य के ज्ञाता को किसी के आशीर्वादों की क्या आवश्यकता हुई! इस घटना का जो समय वेणीमाधवदास ने दिया है वह भी ठीक नहीं जान पड़ता। यह घटना उनके अनुसार १६०७ और १६१६ के बीच की है, परंतु हितहरिवंशजी का १६२० तक जीवित रहना पाया जाता है। इस संवत् में उन्होंने ओड़छा के हरिराम व्यास को अपना शिष्य बनाया था। वेणीमाधवदास के कथन से यदि कोई तथ्य निकाला जा सकता है तो केवल यही कि गोसाईंजी की कहीं हितहरिवंशजी से भेंट हुई थी।

इसी प्रकार वेणीमाधवदास ने चित्रकूट के पास कामद वन में विट्ठलनाथजी* के भेजे सूरदासजी का सं० १६१६ के आरंभ में आकर गोसाईंजी को अपना सूर-सागर दिखलाना लिखा है। समय की दृष्टि से तो इसमें कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि संवत् १६२० तक सूरदासजी वर्तमान थे। इस बात में भी संदेह नहीं कि गोसाईंजी ने सूरसागर देखा था। उनकी कृष्णगीतावली में कई पद सूरसागर के हैं। रामगीतावली में भी सूरसागर के पद मिलते हैं। परंतु यह बात मानने योग्य नहीं कि ७६ वर्ष के बूढ़े सूरदासजी तुलसीदासजी के दर्शनों के लिये कामद वन गए हों और वह भी एक ऐसे व्यक्ति को सूरसागर ऐसी उत्कृष्ट रचना दिखलाने के लिये जिसने कविता के नाम पर उस समय तक एक भी अक्षर न लिखा हो। पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने अपने भक्तिविलास ग्रंथ में सूरदासजी की व्रज में गोसाईंजी से भेंट होना लिखा है, जो मान्य भी है।

---

* मूल गोसाईं-चरित की जो प्रति मिली है उसमें गोकुलनाथ लिखा है जो स्पष्ट ही लेखनी का प्रमाद मालूम पड़ता है, क्योंकि जैसा पंडित मयाशंकर याज्ञिक ने बताया है, गोकुलनाथ उस समय केवल आठ वर्ष के बालक थे।

कहते हैं वहाँ किसी ने तुलसीदासजी से सूरदासजी की प्रशंसा की, इस पर तुलसीदास ने कहा—

'कृष्णचंद्र के सूर उपासी।
तातें इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचंद्र हमरे रखवारा।
तिनहिं छाँड़ि नहिं कोउ संसारा॥'

यदि कोई सूरदास गोसाईंजी से मिलने गए ही हों तो वे महाकवि सूरदास नहीं, कोई दूसरे सूरदास रहे होंगे। एक दूसरे सूरदास का वर्णन आईन अकबरी में मिलता है जो अकबरी दरबार में रामदास गायनाचार्य के पुत्र थे। संभवतः यही गोसाईंजी के दर्शनों के लिये गए हों। हमारा अनुमान है कि इसी प्रकार हितहरिवंशजी से भी गोसाईंजी की भेंट ब्रज या मथुरा में हुई होगी।

गोसाईंजी से मीराबाई का पत्र-व्यवहार प्रसिद्ध ही है। ये मेवाड़ के राजकुमार भोजराज की वधू थीं और बड़ी भगवद्भक्त थीं। पतिदेव के स्वर्गवासी हो जाने पर इनकी भावनाओं के एक-मात्र आधार भगवान् और उनके भक्त हो गए। साधु-समागम में ही उनका समय बीतने लगा। भक्ति के आवेश में कभी वे प्रार्थना के पद गाती हुई विह्वल होकर कृष्ण की मूर्ति के सामने नाचने लगतीं। घर के लोगों को यह बात बुरी लगती थी, परंतु जब तक उनके ससुर महाराणा संग्रामसिंह और उनके बाद उनके देवर रत्नसिंह गद्दी पर रहे तब तक किसी तरह यह बात निभती रही, परंतु उनके दूसरे देवर विक्रमाजीतसिंह के गद्दी पर बैठने पर उनके भजन में भंग पड़ने लगा। नए महाराणा उन्हें बहुत सताने लगे। उन्हें विष तक खिलाए जाने की बात कही जाती है, जिससे अभीष्ट सफल नहीं हुआ। इस अत्याचार से तंग आकर मीराबाई ने पत्र द्वारा

गोसाईंजी की सम्मति माँगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए। कहते हैं कि मीराबाई ने यह पद्य-बद्ध पत्र भेजा था—

'श्री तुलसी सुख-निधान दुख-हरन गुसाईं।
बारहि बार प्रनाम करूँ हरो सोक-समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तौ अब छूटै नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात-पिता के सम हौ हरि-भगतन सुखदाई।
हम कूँ कहा उचित करियो है सो लिखियो समुझाई॥'

इसके उत्तर में गोसाईंजी ने यह पद लिख भेजा—

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन भे सब मंगलकारी॥
नातो नेह राम सों मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥'

यह पद विनयपत्रिका में संगृहीत है। इससे इस पत्र-व्यवहार की कथा पुष्ट होती है।

यह उत्तर पाकर मीराबाई अपने मायके मेड़ते चली गईं। वेणीमाधवदास ने भी इस पत्र-व्यवहार का उल्लेख किया है। पत्रवाहक का नाम उसने सुखपाल ब्राह्मण लिखा है और इसे सं० १६१६ की घटना बतलाया है। संभवतः और पत्र-व्यवहारों की कल्पना भी उसे इसी किंवदंती ने सुझाई हो; परंतु यह किंवदंती इतनी प्रसिद्ध

है कि और पत्र-व्यवहारों की तरह इसे भी सहसा असत्य मान बैठना अनुचित है। हाँ, वेणीमाधवदास ने इसका जो संवत् दिया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में उससे तेरह वर्ष पहले मीरा-बाई की मृत्यु हो जाने के प्रमाण मिलते हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुंशी देवीप्रसादजी ने इनका मृत्यु-संवत् बहुत खोज के उपरांत १६०३ ठहराया है। यदि जैसा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने उदयपुर दरबार की अनुमति से माना है, मीराबाई की मृत्यु १६२० में मानी जा सके तो वेणीमाधवदास का दिया हुआ संवत् ठीक हो सकता है। परंतु भारतेंदुजी के मत के पक्ष में कोई प्रमाण अब तक नहीं मिले हैं। हो सकता है कि यह घटना संवत् १५-६८ को हो। मूल गोसाईं-चरित के अनुसार उस समय गोसाईंजी द्वारका से बदरीनाथ जाते रहे होंगे। संभव है वे राजस्थान से होकर गए हों। उस समय गोसाईंजी की अवस्था चवालीस वर्ष की रही होगी।

काशी में टोडरमल नाम के एक भुइँहार जमींदार रहते थे जिनसे गोसाईंजी की बड़ी घनिष्टता हो गई थी। वल्लभ संप्रदाय के गोसाइयों के विरोध से जब गोसाईंजी को गोपाल-मंदिर छोड़ना पड़ा, तब इन्होंने उनके लिये अस्सी पर एक मंदिर बनवा दिया और वे आग्रह-पूर्वक उनको वहाँ ले गए। वहीं गोसाईंजी का मृत्यु पर्यंत रहना पाया जाता है। इन टोडरमल की मृत्यु गोसाईंजी के सामने ही हो गई थी। किंवदंती है कि गोसाइयों ने ही इन्हें मारा था। परंतु मूल गोसाईं-चरित इनका पूर्णायु भोगकर मरना मानता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि वे स्वाभाविक मृत्यु से मरे थे। इनकी मृत्यु से गोसाईंजी को बड़ा दुःख हुआ था। वेणीमाधव-दास के अनुसार तीन दिन तक तो वे बड़ी विकल अवस्था में रहे। अनंतर अपने मित्र की प्रशंसा में उन्होंने निम्नलिखित दोहे कहे—

'चार गाँव को ठाकुरो मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथयो टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥
रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥'

इन टोडरमल का इलाका काशी के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला था। उसमें भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा ये पाँच गाँव थे। भदैनी अब काशिराज की जमींदारी में है। अस्सी घाट इसी के अंतर्गत है। नदेसर में कुछ ही समय पूर्व तक सरकारी दीवानी कचहरी थी। शिवपुर पंचक्रोशी में है। यहाँ पाँचों पांडवों का मंदिर और द्रौपदी-कुंड है। अकबर के प्रसिद्ध मंत्री राजा टोडरमल ने इस कुंड का जीर्णोद्धार कराया था। एक शिला-लेख वहाँ इस बात का स्मारक है। अनुमान किया जाता है कि बंगाल की लड़ाई पर जाते समय राजा टोडरमल ने इसका जीर्णोद्धार कराया होगा। छीतूपुर भदैनी से और पच्छिम की ओर नगवा के पास है और लहरतारा काशी के छावनी स्टेशन के पास। किंवदंती है कि नीरू और नीमा ने कबीर को इसी लहरतारा की झील में बहते पाया था।

डाक्टर ग्रिअर्सन का अनुमान है कि गोसाईंजी के मित्र टोडर-मल अकबर के प्रसिद्ध वजीर राजा टोडरमल से भिन्न कोई व्यक्ति न थे। इस अनुमान का आधार द्रौपदी-कुंड का शिला-लेख है। इसी से राजा टोडरमल के जन्मस्थान लहरपुर (अवध) को इन्होंने बड़े सुभीते से लहरतारा अनुमान कर लिया। परंतु डाक्टर ग्रिअर्सन

का अनुमान ठीक नहीं है। स्वयं गोसाईंजी ने अपने मित्र के लिये "चार गाँव को ठाकुरो" कहा है जो राजा टोडरमल पर नहीं लग सकता। इसी तरह एक पंचनामे में, जिसका उल्लेख करने का अभी अवसर आवेगा, नगर के काज़ी ने उनका नाम बड़े साधारण तरीके से लिया है। पंचनामे पर काज़ी ने लिखा था—"आनंदराम बिन टोडर बिन देवराम व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर दर हुजूर आमदः।" उस "बंदःनिवाज़ी" के युग में राजा टोडरमल का नाम इस बेतकल्लुफी से नहीं लिया जा सकता था। द्रौपदी-कुंड का शिला-लेख राजा टोडरमल को "श्रीमट्टंडनवंशमंडनमणिः" कहता है जिससे स्पष्ट है कि वे टंडन खत्री थे। परंतु यह टोडरमल भूमिहार थे। इनके वंशजों की कुछ स्थावर संपत्ति अब तक काशी में है, जब कि राजा टोडरमल का वहाँ द्रौपदी कुंड के शिला-लेख को छोड़ और कोई चिह्न नहीं है। इन टोडरमल के लड़कों के नाम आनंदराम और रामभद्र पाए जाते हैं, जब कि राजा टोडरमल के पुत्रों का नाम धरु टंडन और गोवर्धनधारी टंडन था। रामभद्र अपने पिता के सामने ही मर गया था परंतु राजा टोडरमल के दोनों पुत्र उनके पीछे तक जीवित रहे। इस प्रकार ये दोनों टोडरमल भिन्न भिन्न व्यक्ति थे।

टोडरमल की मृत्यु के पीछे भी उनके कुल में गोसाईंजी का सम्मान बना रहा। अब तक उनके वंशज गोसाईंजी की पुण्य-तिथि को सीधा दिया करते हैं। टोडरमल के पुत्र आनंदराम और पोते कँधई के बीच जायदाद के बँटवारे के संबंध में बड़ा झगड़ा हुआ था। उसकी पंचायत भी गोसाईंजी ने ही की थी। इस समय गोसाईंजी की अनुमति से जो पंचनामा लिखा गया था उसमें आरंभ में मंगलाचरण पर एक श्लोक और दो दोहे गोसाईंजी के हाथ के लिखे कहे जाते हैं, जो मान्य भी है, क्योंकि इनकी लिखावट सरस्वती

पंचनामा

भवन में रक्षित गोसाईंजी के हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड से बिलकुल मिलती है। पाठकों की कुतूहल-शांति के लिये पंचनामे के प्रधान अंश की नकल नीचे दी जाती है। उसका फोटो भी हम इस पुस्तक में दे देते हैं।

'श्रीजानकीवल्लभो विजयते।

द्विश्शरं नाभिसंधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते॥
तुलसी जान्यो दसरथहि धरमु न सत्य समान॥
रामु तजो जेहि लागि विनु राम परिहरे प्रान।
धर्मो जयति नाधर्मस्सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुराः॥'

(नीचे की कुछ पंक्तियों की इबारत फारसी में है, यहाँ उसकी हिंदी प्रतिलिपि दी जाती है।)

चूँ आनंदराम विन टोडर विन देओराय व कन्हई विन रामभदर विन टोडर मजकूर।

दरहुजूर आमद करार दादंद कि दर मवाज़िए मतरूकः कि तफसीलि आं दर हिंदवी मजकूर अस्त।

बिल मुनासफः वतराज़ीए जानिबैन करार दादंम व यक सद व पिंजाह बीघा ज़मीन ज्यादः किस्मति मुनासफः खुद।

दर मौजे भदैनी अनंदराम मज़कूर व कन्हई विन रामभदर मज़कूर तजवीज़ नमूदः।

बरी मानी राज़ीगश्तः इतराफ सहीह शरई नमूदंद यनावरि आं मुह करदः शुद।

श्रीपरमेश्वर

संवत् १६६९ समये कुआर सुदि तेरसी वार सुभ दीने लिषीतं पत्र अनंद राम तथा कन्हइ के अंश विभाग पुर्वक आगे क आन्य दुनहु

जने मांगा जे आग्य सै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसीलु अंशु टोडरमलु के माह जे विभाग पदु होत रा...

अंश अनंदराम	अंश कन्हइ
मौजे भदैनी मह अंश पाच तेहि मह अंश दुइ अनंदराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलु क तथा नयपुरा अंश टोडरमलु क हील हुज्जती नास्ती लिषीतं अनंदराम जे ऊपर लिषा से सही।	मौजे भदैनी मह अंश पाच तेहि मह तीनि अंश कन्हइ तथा मौजे शिवपुरा तथा नदेसरी अंश टोडरमलु क हील हुज्जती नास्ती, लिषीतं कन्हई जे ऊपर लिषा से सही।

इसके वाद तैंतीस साक्षियों के हस्ताक्षर हैं और फिर लिखा है—

शहद व माफिह जलाल मकबूली विखत ही	शहद व माफिह ताहिर इवनी ख्वाजः दौलते कानूनगोय

मुहर सादुल्लाह विन ... ...

(फिर अधिकारियों की ओर से दोनों के विभाग लिखे गए हैं और नीचे अस्पष्ट अक्षरों में काजी के हस्ताक्षर हैं, जिसको लोगों ने अन्हरुल्ला पढ़ा है)

यह पंचनामा ग्यारह पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। ११ वीं पीढ़ी में पृथ्वीपालसिंह ने उसे काशिराज को दे दिया। अव भी यह काशिराज के यहाँ अच्छी तरह सुरक्षित है। इसका फोटो हम इस पुस्तक में देते हैं।

रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत के रचयिता प्रसिद्ध कवि नंददासजी से भी गोसाईंजी का वड़ा स्नेह था। वे उन्हें अपने छोटे भाई के समान मानते थे। दो सौ वावन वैष्णवों की वार्त्ता से पता लगता है कि जव एक समय मथुरा से वैष्णवों की मंडली काशी आई थी तव गोसाईंजी वड़ी उत्सुकता से नंददास की कुशल पूछने के

लिये उन लोगों के पास गए थे। इसी प्रकार जब गोसाईंजी ब्रज गए थे तब स्वयं मथुरा जाकर उन्होंने उनकी ढूँढ़ की और मिलने पर जी भर उलाहना देकर साथ चलने का आग्रह किया। वार्त्ता उनके मुँह में इन मीठे शब्दों को रखती है—"जो नंददास तू ऐसो कठोर क्यों भयो है...तेरो मन होय तो अजुध्या में रहियो, तेरो मन होय तो प्रयाग में रहियो, चित्रकूट में रहियो।" इसी से वे गोसाईंजी के छोटे भाई प्रसिद्ध हो गए थे। वार्त्ता में भी वे उनके भाई ही माने गए हैं। परंतु साथ ही वार्त्ता ने उन्हें सनाढ्य भी कहा है जिससे उनका गोसाईंजी का भाई होना नहीं घटता। अतएव श्रीवैजनाथजी ने उन्हें अपनी रामायण की भूमिका में गोसाईंजी का गुरु-भाई कहा। इधर वेणीमाधवदास के मूल-चरित से पता चलता है कि वे गोसाईंजी के गुरु-भाई थे किंतु सनाढ्य न होकर कान्यकुब्ज थे। यह संगत भी जान पड़ता है। दोनों ने काशी में एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी, यह हम पीछे देख ही चुके हैं।

अकबर के प्रसिद्ध वजीर नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना भी गोसाईंजी के प्रेमियों में से थे। वे गोसाईंजी का बड़ा सम्मान करते थे। 'नरतिय सुरतिय नागतिय' वाले दोहे के संबंध में अन्यत्र कहा जा चुका है। उसका पूर्वार्ध उन्होंने एक गरीब ब्राह्मण के हाथ जो दरिद्रता के कारण अपनी पुत्री का विवाह नहीं करा सकता था खानखाना के पास भेजा था। खानखाना ने उस ब्राह्मण को बहुत कुछ दान देकर उसी के हाथों उस दोहे की पूर्ति कर गोसाईंजी के पास भेज दी। खानखाना को गोसाईंजी की रचनाओं पर भी बड़ा प्रेम था। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि वे यमुना-तट पर संभवतः दिल्ली या आगरे में तीन साल तक संडीले के नंदलाल के शिष्य दयालुदास से गोसाईंजी का रामचरितमानस बड़े प्रेम से सुनते रहे। गोसाईंजी को भी रहीम के बरवै बड़े

पसंद आए थे और उन्हीं के आग्रह पर उन्होंने बरवै रामायण की रचना की थी।

आमेर के महाराजा मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह भी गोसाईंजी के पास प्रायः आते थे। इसी पर एक दिन किसी ने गोसाईंजी से पूछा—"महाराज! पहले तो आपके पास कोई नहीं आता था और अब इतने बड़े बड़े लोग आया करते हैं इसका क्या कारण?" उन्होंने कहा—

'लहै न फूटी कौड़िहूँ को चाहै केहि काज।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीब-निवाज॥
घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु, ये अब राम सहाय॥'

अकबरी दरबार के कवि गंग भी, बेणीमाधवदास के अनुसार, गोसाईंजी से मिलने गए थे। जरा मनचले आदमी थे। गोसाईंजी पर भी छींटे डाले बिना न रह सके। बोले—गजराज ने कौन माला जपी थी जो भगवान् उनकी रक्षा के लिये दौड़े चले आए। मतलब यह था कि आप यह जो माला फेरते हैं सब पाखंड है, भक्ति मन की होती है, तन की नहीं, जो व्यक्ति मरते मरते यह कहता गया—

'कबहुँ न भँडुआ रण चढ़े कबहुँ न बाजी बंब।'

उसे यह आक्षेप करते क्या देर लगती थी? गोसाईंजी ने इस पर कुछ नहीं कहा, क्योंकि वे प्रशंसा या निंदा की सीमा के बाहर थे परंतु गंग को इसका दैवी दंड मिला—

'मारग में हाथी कियो झपट गंग तनु भंग।'

तुलसीदासजी को 'पाखंडी कठमलिया' कहने से ही गंग पर यह दैवी कोप हुआ। इसमें तो स्पष्ट ही बेणीमाधवदास की अंध गुरु-भक्ति दिखाई देती है। परंतु गंग के हाथी के द्वारा मारे जाने की बात असत्य नहीं है। वे बहुत मुँह-फट आदमी थे। जो कुछ

जी में आता था उसके कहने में चूकते न थे। किसी राजा, नवाब अथवा स्वयं बादशाह ने ही चिढ़कर हाथी से चिरवा दिया होगा। किसी ने कहा भी है—

'गंग ऐसे गुनी को गयंद सों चिरायो है ?'

देव ने भी कहा है—

'एक भए प्रेत एक मींजि मारे हाथी।'

किसी और कवि ने कहा है—

'सब देवन को दरबार जुरयो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो तब नारद एक प्रसंग चलायो॥
मृत लोक में है नर एक गुनी, कहि गंग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को, तब गंग को लेन गनेस पठायो॥'

वेणीमाधवदास ने यह घटना संवत् १६६६ की बताई है। संवतों के विषय में एकाएकी वेणीमाधवदास का अंध अनुसरण ठीक नहीं है, परंतु इस संवत् को जाँचने का कोई साधन अब तक नहीं मिला।

आचार्य केशवदास का भी, मूल गोसाईं-चरित में, गोसाईंजी के दर्शनों के लिये आना लिखा है। कहते हैं, उस समय एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। जब शिष्य ने केशवदासजी के आने की ख़बर गोसाईंजी के पास पहुँचाई तब उन्होंने कहा प्राकृत कवि केशवदास को ले आओ। केशवदासजी ने यह कथन सुन लिया। यह बात उन्हें बहुत खटकी। वे यह कहकर लौट गए कि कल फिर आकर मिलूँगा। उन्होंने सोचा कि इन्हें रामचरितमानस रचने का बहुत गर्व हो गया है, इन्हें दिखलाना चाहिए कि हम भी रामचंद्र का यश वर्णन कर सकते हैं। रातों-रात उन्होंने रामचंद्रिका रच डाली और दूसरे दिन जाकर गोसाईंजी को दिखलाई। यह बात तो कदापि मान्य नहीं हो सकती कि रामचंद्रिका जैसे वृहत् और क्लिष्ट ग्रंथ की रचना एक ही रात में हुई होगी, परंतु यह अवश्य प्रकट होता है कि—

'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'
के परिहार के लिये ही उन्होंने देव-काव्य की रचना की। कहते हैं जब केशवदास का गोसाईंजी से वार्त्तालाप हुआ तब उन्हें अपना भ्रम मालूम हुआ और अनुभव हुआ कि संत महात्माओं का गर्व से कोई संबंध नहीं। उनके मन का क्षोभ मिट गया। साहित्य-शास्त्र की चर्चा छिड़ी और खूब रस-रंग रहा। इस अवसर पर बलभद्र, घनश्याम और घासीराम वहाँ आए हुए थे। ये बलभद्र संभवतः केशवदास के बड़े भाई और नख-शिख के कर्त्ता थे। घनश्याम के विषय में कहा गया है कि ये नभ के बसिया थे। नहीं कह सकते कि नभ किसी गाँव का नाम था अथवा ये कोई ऐसे चमत्कारी जीव थे कि आकाश में भी विचरण करनेवाले प्रसिद्ध हो गए थे। इसी प्रकार कई अन्य साधु-महात्माओं का, जो गोसाईंजी के दर्शनों के लिये आए थे, वेणीमाधवदास ने उल्लेख किया है, जैसे—यादवप्रकाश, चित्सुखाचार्य, करुणेश (संभवतः कर्णाभरण के रचयिता), सदानंद, मुरारिदेव, दिगंबर परमहंस, विरही भगवंत, देवी, विभवानंद, दिनेश और कोई पिल्ले जिनके नाम से पता चलता है कि वे दाक्षिणात्य थे।

कुछ दिन पीछे बीजापुर आदिल शाही राज्य के दानधर्माध्यक्ष ब्राह्मण दत्तात्रेय गोसाईंजी के आश्रम में आए और उनकी वंदना करके उन्होंने गोसाईंजी से कुछ प्रसाद चाहा। गोसाईंजी ने उन्हें अपने हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण की प्रति समर्पित की। जान पड़ता है कि यह वही प्रति है जो गोसाईंजी ने सं० १६४१ में काशी में लिखी थी। काशी के सरस्वती-भवन में वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड की एक प्रति है जिसकी पुष्पिका में लिखा है—

"इत्यार्षे रामायणे वाल्मीकीये चतुर्विंशतिसाहस्र्यां संहितायां उत्तरकांडे स्वर्गारोहणकं नाम सर्गः। शुभमस्तु। समाप्तं चेदं

[illegible] ध्यानगतीरम्याश्च [illegible]

कामदेपादं वर्ष [illegible] वेत् पापान्यपि सदा कुर्वन्न स पापेन न लिप्यते ॥ अयोध्यानगरी रम्या [illegible] भार्गवो धीमान्

पिञ्जपभंप्राप्य राजानं निवेशमुपलिप्यते ॥ इदमायुष्यमाख्यानं [illegible] कालतानि यत्न दा

ब्रह्मा तत्रा [illegible] पवेदेकं श्लोकं वा सर्वपापात्प्रमुच्यते सर्वदा पठते यस्तु [illegible] जपध्यतो ॥ ॥ [illegible] ॥ समा

ख्यानसथ्यं यस्तु विष्णोः रदद्विजाः छ्नवास्वर्गतो धीमान्त्रस्लवे [illegible] ॥ ॥ श्रीरामचन्द्र ॥ ॥ सम

[illegible] सवे ॥ ले॰ तुलसीदासेन ॥

नायेन [illegible] ॥ [illegible] ॥ [illegible] वाल्मीके॰ ठि

[illegible] रदियादानादि [illegible]

श्रीमद्यो [illegible] श्रीमंडनमंडलीश्रु [illegible] कर्मक्षमावीकरर ॥ श्री ॥

मुत्र मांथ्रर [illegible] लिपिकृते कर्मक्षमावीकर

वाल्मीकीय रामायण का अंतिम पृष्ठ

महाकाव्यं श्री रामायणमिति संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि ७ रवौ लि० तुलसीदासेन।"

वेणीमाधवदास ने भी काशी में लिखी प्रति का यही समय दिया है—

'लिखे वाल्मीकि बहुरि इकतालिस के माँहि।
मगसिर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि॥'

ज्योतिष की गणना से भी मार्गशीर्ष सुदी सप्तमी रविवार को ही पड़ती है। इस प्रति के अंत में भिन्न अक्षरों में यह श्लोक लिखा है—

श्रीमद्येदिलशाहभूमिपसभालभ्यैंद्रभूमीसुरः।
श्रेणीमंडनमंडलीपुरिदयादानादिभाजिप्रभुः॥
वाल्मीकेः कृतिमुत्तमां पुररिपोः पुर्यां पुरोगः कृती।
दत्तात्रेयसमाह्वयो लिपिकृतेः कर्म्मत्वमाचीकरत्॥

जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि इस प्रति को गोसाईंजी ने दत्तात्रेय को दिया था। परंतु श्लोक से तो ऐसा मालूम होता है कि गोसाईंजी ने लिखा ही इस प्रति को दत्तात्रेय के कहने से था।

सरस्वती-भवन का उत्तरकांड अन्य कांडों से अलग कैसे हुआ इसकी भी कथा है। यह कांड अपने भाई और कांडों के सहित नवाबगंज काशी के पंडित राधाकांतजी पांडेय के यहाँ कुछ पीढ़ियों से सुरक्षित था। उनके पितामह प्रसिद्ध ज्योतिषी पंडित काशीप्रसादजी को रामायण की यह प्रति कहीं ग्वालियर की ओर मिली थी। राधाकांतजी इस प्रति को बहुत सावधानी से रखते थे। एक बार एक संबंधी के बड़े आग्रह करने पर उन्होंने उसे दे दिया। जब संबंधी महोदय ने पुस्तक लौटाई तो उन्होंने बिना देखे उसे रख लिया। पीछे मालूम हुआ कि बालकांड, अयोध्याकांड और उत्तर-कांड के स्थान पर पुस्तक की मोटाई पूरी करने के लिये अखबारों के पन्ने रख दिए गए हैं। शेष चारों कांड पंडित राधाकांतजी के

पास अब तक विद्यमान हैं। हमें भी इन्हें देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पहले दो कांड कहाँ हैं, नहीं कहा जा सकता है। पांडेयजी का अनुमान है कि चंदन-चर्चित पटरी के सहित वे किसी युरोपीय पुस्तकालय की शोभा बढ़ा रहे हैं।

पीछे एक पंचनामे का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार टोडर के वंशजों में संपत्ति का विभाजन हुआ था। इस पंचनामे में दो श्लोक और एक दोहा गोसाईंजी के हाथ के लिखे कहे जाते हैं। इनकी लिखावट पूर्वोक्त वाल्मीकीय रामायण की लिखावट से अच्छी तरह मेल खाती है जिससे यह निश्चय जान पड़ता है कि दोनों लिखावटें एक ही व्यक्ति के हाथ की हैं। भेद केवल इतना ही है कि वाल्मीकीय रामायण जमकर लिखी गई है और पंचनामा कुछ शीघ्रता में। इनको देखने से पता चलता है कि गोसाईंजी की लिपि बहुत सुंदर और पुष्ट होती थी और वे कुछ लंबोतरे अक्षर लिखा करते थे। राजापुर, अयोध्या और मलिहाबाद में रामचरितमानस की जो प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं उनके लिये भी कहा जाता है कि वे गोसाईंजी के हाथ की लिखी हैं। मलिहा-बादवाली प्रति तो किसी दशा में गोसाईंजी के हाथ की लिखी नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसमें क्षेपक विद्यमान हैं। अन्य दो प्रतियों की लिखावटें भी न ऊपर लिखित प्रामाणिक लिखावटों से मेल खाती हैं और न आपस ही में एक दूसरे से मिलती हैं। उनमें अक्षर लंबोतरे न होकर कुछ गोल से हैं। इससे वे भी गोसाईंजी के हाथ की लिखी नहीं हो सकतीं। पंडित विजयानंद त्रिपाठी के एक लेख से पता चलता है कि मिथिला के किसी पंडित घराने में कोई चिट्ठी है जो गोसाईंजी के हाथ की लिखी कही जाती है। परंतु उसे त्रिपाठीजी ने भी नहीं देखा है, अतएव उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। और जो हो, इस

रामायण की पंचायती की प्रति

रामायण की राजापुर की प्रति

विषय में तो संदेह नहीं कि वाल्मीकीय रामायण की यह प्रति गोसाईंजी के हाथ की लिखी है।

यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध जैन संत कवि बनारसीदास से इनकी कई बार भेंट हुई थी। बनारसीदास का संवत् १६५३ के लगभग वर्तमान रहना पाया जाता है। अतएव गोसाईंजी से उनका परिचय होना असंभव नहीं। कहते हैं, गोसाईंजी ने बनारसीदास को रामचरितमानस की एक प्रति दी थी और बनारसीदास ने उनको पार्श्वनाथ स्वामी की स्तुति दी। फिर दूसरी बार की भेंट में प्रसंगवश बनारसीदास ने रामचरित पर निम्नलिखित आध्यात्मिक कविता पढ़ी—

'विराजै रामायण घट माहीं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहीं॥
आतम राम ज्ञान गुन लक्ष्मण, सीता सुमति समेत।
शुभ प्रयोग बानरदल मंडित, वर विवेक रन खेत॥
ध्यान-धनुष टंकार सोर सुनि गई विषय दिति भाग।
भई भस्म मिथ्या मत लंका उठी धारना आग॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल लरै निकांछित सूर।
जूझे राग द्वेष सेनापति संसय गढ़ चकचूर॥
बिलखत कुंभकरन भव विभ्रम, पुलकित मन दरियाव।
थकित उदार वीर महिरावन, सेतु-बंध सम-भाव॥
मूर्छित मंदोदरी दुरासा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परनति सेना, छुटै छपक गुन बान॥
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय बिभीषन दीन।
फिरै कबंध महीरावन को प्रान भाव सिरहीन॥
इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायन, केवल निश्चय राम॥

कहते हैं इसके उत्तर में गोसाईंजी ने भी भक्ति-विरदावली नामक एक स्तोत्र पढ़ा जिसमें उन्होंने पार्श्वनाथ की स्तुति की थी। उसके दो छंद 'बनारसी-विलास' के संपादक ने उद्धृत किए हैं जो यहाँ भी दे दिए जाते हैं—

'पद-जलज भगवान जू के बसत हैं उर माहिं।
चहुँ गति विहंडन तरनतारन, देख विघन विलाहिं॥
थकि धरनि पति नहिं पार पावत नर सु बपुरा कौन।
तिहिं लसत करुना जस-पयोधर, भजहिं भवि जन तौन॥
दुति उदित त्रिभुवन मध्य भूपन, जलधि ज्ञान गँभीर।
जिहि भाल ऊपर छत्र सोहत, दहत दोष अधीर॥
जिहि नाथ पारस जुगल पंकज चित्त चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजर राजित भजत तुलसीदास॥'

कथानक तो गोसाईंजी की प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं है, किंतु जो छंद गोसाईंजी के कहे गए हैं वे भाषा की दृष्टि से गोसाईंजी के से नहीं लगते। परंतु उनके गोसाईंजी रचित न होने पर भी इन दोनों संतों के परस्पर परिचय और सद्भाव की बात सत्य हो सकती है।

मड़ियाहू के कानूनगो भीष्मसिंह तथा कोई एक भाट काशी-वास के लिये आए थे। वेणीमाधवदास ने भाट का नाम नहीं लिखा है। ये दोनों व्यक्ति गोसाईंजी के बड़े भक्त थे। भीष्मसिंह बहुधा उनके दर्शनों के लिये जाया करते थे। भाट ने तो बहुत विनय करके गोसाईंजी के साथ रहने की आज्ञा प्राप्त कर ली थी। भीष्म-सिंह गोसाईंजी के रहते ही स्वर्गवासी हो गए थे।

यह बात भी बहुत प्रसिद्ध है कि मुगल बादशाह जहाँगीर गोसाईंजी से मिलने आया था। उस समय गोसाईंजी बहुत बूढ़े हो चले थे। वेणीमाधवदास ने भी इस बात का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह घटना संवत् १६७१ की है। परंतु स्वयं जहाँगीर के

लेख से मालूम होता है कि वह १६६९ से १६७३ तक पूर्व की ओर आया ही नहीं। इस बीच में वह एक वर्ष आगरे और दो वर्ष से कुछ अधिक अजमेर में रहा। यह बात भी नहीं मानी जा सकती कि इस बुढ़ौती में गोसाईंजी ने कोई लंबी यात्रा की हो और वे ही स्वयं जाकर उसे कहीं पश्चिम में मिले हों। इससे सूचित होता है कि यह बात संवत् १६७३ के पीछे की होगी। कहते हैं, जहाँगीर ने इस समय गोसाईंजी का एक चित्र भी खिंचवाया था। जहाँगीर ने इन्हें बहुत कुछ धन-धरती भेंट करनी चाही पर इन्होंने स्वीकार न की। इसी अवसर पर बीरबल की वाग्विदग्धता और सभा-चातुरी की भी बादशाह ने चर्चा चलाई। इस पर गोसाईंजी ने खेद प्रकट किया कि इस प्रकार का बुद्धि-वैभव प्राप्त रहने पर भी उसने हरि-भजन नहीं किया, क्योंकि गोसाईंजी का मत था कि परमात्मा हमें साधन-संपन्नता इसी लिये देता है कि उसका परमार्थ में उपयोग किया जाय। वह चतुरता किस काम की जो भगवद्भक्ति की प्रेरणा न करे और वह भी भारत सरीखी तपोभूमि में—

भलि भारतभूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहिकै।
जो भजै भगवान सयान सोई, तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै॥

---

(१०) गोसाईंजी के चमत्कार

जगत् की मिथ्याप्रियता से महात्माओं का माहात्म्य भी अछूता नहीं बचता। यह माहात्म्य का अभिशाप है कि किसी भी व्यक्ति के प्रसंग में वह शीघ्र ही करामात का पर्याय हो जाता है, अन्यथा जन-साधारण को उसमें कोई अर्थ नहीं दीखता। उनके सामने प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर असंभव को संभव कर दिखलाना ही माहात्म्य है। आत्मानुभूति के महत्त्व को वे जान ही क्या सकते हैं? धर्म भी मिथ्या के ही संसर्ग से जनसाधारण के लिये ग्राह्य होता है। धर्म-प्रवर्तकों को इसी लिये समय समय पर मिथ्या का आश्रय लेना पड़ा है। धार्मिक मूल तत्त्वों के ग्रंथ इसी प्रकार कागज के ऊपर स्याही से लिखे सीधे परमात्मा के पास से आते हैं। देवता उनकी सेवा में लगे रहते हैं। रोगी उनके स्पर्श से नीरोग होते हैं, मृतक जी उठते हैं, अंधे कुएँ भर जाते हैं, और क्या नहीं हो जाता। ठग-विद्या के द्वारा करामाती प्रसिद्ध हो जानेवाले साधु वास्तविक महात्माओं से साधारणतः अधिक पूजा पाते हुए देखे जाते हैं। कभी कभी सद्भावनाओं से प्रेरित होकर मंगलमूलक सिद्धांतों के प्रचार की दृष्टि से अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये सच्चे महात्माओं को भी करामाती प्रसिद्ध होना पड़ता है। गँवार को समझाने के लिये गँवारू भाषा का प्रयोग किए बिना निस्तार ही नहीं है। जो लोग स्वयं अपने लिये प्रभाव और महत्त्व नहीं चाहते उनके लिये उनके चेले और श्रद्धालु अनुगत यह काम कर दिया करते हैं। गोसाईं तुलसीदासजी ने यद्यपि जहाँगीर से स्वयं कहा था कि हमारा करामातों से कोई संबंध नहीं है, फिर भी उनके नाम के साथ कई करामातों का संग्रह हो ही गया है।

राम-दर्शन की बात हम अन्यत्र कह आए हैं। हम उसे बिल्कुल निराधार किंवदंती नहीं समझते। उसमें सार क्या है, किस अर्थ में वह सत्य घटना है, यह हम वहाँ दिखा आए हैं। दो एक चमत्कारी बातों का और स्थलों पर भी उल्लेख हुआ है। यहाँ पर हम गोसाईंजी के नाम से प्रसिद्ध कुछ अन्य चमत्कारी घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

मूल गोसाईं-चरित में लिखा है कि चित्रकूट से अयोध्या जाते हुए गोस्वामीजी प्रयाग में ठहरे। उस समय मकर स्नान का पर्व था। पर्व के छः दिन पीछे उन्होंने देखा कि एक वट के नीचे दो अपूर्व तेजस्वी ऋषि आसन जमाए राम-कथा का रस ले रहे हैं। गोसाईंजी भी वहाँ जाकर बैठ गए और उन्होंने बड़ी नम्रता से उनका नाम पूछा तो मालूम हुआ कि वे याज्ञवल्क्य और भरद्वाज हैं। गोसाईंजी ने उनसे राम-कथा का रहस्य पूछा और याज्ञवल्क्यजी ने वह सारा भेद, जैसे भुशुंडीजी से सुना था तथा जिसे शिवजी ने रचकर पार्वती से कहा था, उन्हें बता दिया। दूसरे दिन फिर सत्संग की अभिलाषा से गोसाईंजी वहाँ गए पर न वहाँ वट वृक्ष दिखाई दिया और न मुनि-द्वय।

इस कहानी का आधार बालकांड के छासठवें दोहे से आगे का भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद है जो इस प्रकार आरंभ होता है—

'एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आस्रमन्ह सिधाए॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥'

इसी पर वेणीमाधवदास ने यह गढ़ंत की है। गोसाईंजी जिस पुरानी बात को कह रहे हैं, वेणीमाधवदास ने उसे उन्हीं के जीवन में घटित कर दिया है।

इसी प्रकार—

'सपनेहुँ साँचेहु मोहि पै जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥'

इस दोहे पर भी वेणीमाधवदास ने एक कथा बैठा दी है जो इस प्रकार है। प्रयाग से चलकर गोसाईंजी काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने संस्कृत में रचना करना आरंभ किया। दिन में जो कुछ लिखते वह रात्रि को गायब हो जाता। सात दिन तक यही आश्चर्य-जनक क्रम रहा। अंत में आठवें दिन महादेवजी ने उन्हें स्वप्न दिया कि अपनी बोली में रचना करो, संस्कृत के पीछे मत मरो। इसी से गोसाईंजी ने बैसवाड़ी अवधी में रामचरितमानस की रचना की। दोहे के 'सपनेहु' शब्द से इस स्वप्न की उद्भावना हुई है, परंतु दोहे से इस बात की सूचना नहीं मिलती कि सचमुच यह स्वप्न हुआ था।

जब गोसाईंजी ने भाषा में रामायण की रचना की तो काशी के संस्कृताभिमानी पंडित उन पर बहुत रुष्ट हुए। वे रामचरितमानस को प्रामाणिक ग्रंथों की कोटि में रखने को प्रस्तुत न थे। अंत में, कहते हैं, यह निश्चय हुआ कि यदि विश्वनाथजी इसे स्वीकार कर लें तो यह ग्रंथ प्रामाणिक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। तदनुसार रात को रामचरितमानस की एक प्रति विश्वनाथजी के मंदिर में रख दी गई। सवेरे उठकर जब मंदिर के कपाट खोले गए तो उस पर विश्वनाथजी की स्वीकृति लिखी पाई गई।

फिर भी पंडितों को संतोष न हुआ। बहुत इधर-उधर करने पर उन्होंने कहा, मान लिया कि तुम्हारा ग्रंथ प्रामाणिक है, परंतु प्रामाणिकता भी कई कोटि की होती है। रामचरितमानस श्रुति, स्मृति, पुराण, काव्य में से किस कोटि में रखा जायगा। इस बार भी विश्वनाथजी निर्णायक नियत हुए। रात को श्रुति, स्मृति और पुराणों के साथ रामचरितमानस की वह प्रति सबके नीचे मंदिर में रखी गई। सवेरे देखा गया कि विश्वनाथजी ने उसे सब के ऊपर रख दिया था।

इस पर यदि कोई कह बैठे कि मालूम पड़ता है, जैसे गोसाईंजी मंदिर के प्रबंधकों से मिले हुए थे, तो उसके लिये अवसर है, परंतु ऐसा कहना दुराग्रह मात्र समझकर हम इन कथानकों को गप ही ठहराते हैं।

पंडितों का दुराग्रह जब इतने पर भी दूर न हुआ तब उन्होंने उस प्रति को गोसाईंजी के पास से उड़ा ले आने के लिये दो चोरों को तैयार किया। वेणीमाधवदास ने इनके लिखुआ और निधुआ नाम तक दे डाले हैं। ये दोनों जब गोसाईंजी की कुटिया पर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि साँवले गोरे दो राजकुमार धनुष बाण लिए कुटिया की रखवाली कर रहे हैं। यह देखकर इन्हें अपने कर्म पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। सबेरे आकर उन्होंने गोसाईंजी से क्षमा-प्रार्थना की। गोसाईंजी को जब यह मालूम हुआ कि हमारे इष्ट देवों को हमारे कारण इतना कष्ट होता है तब उन्होंने अपनी सब चीजें को लुटा दिया और रामचरितमानस की प्रति अपने मित्र टोडर-मल के यहाँ सुरक्षित रहने के उद्देश्य से भेज दी। जब कुछ चीज ही पास न रहेगी तो भगवान् रक्षा किसकी करेंगे। मानों भगवान् का स्वयं गोसाईंजी से अधिक ममत्व उनके डेरे-डंडे पर था।

डाक्टर ग्रिअर्सन ने चोरों के संबंध की एक और चमत्कारी कथा लिखी है। वे लिखते हैं—एक बार काशी में कहीं से डेरे पर लौटते हुए गोसाईंजी को रात हो गई। अँधेरी रात में चोरों ने घेरा। गोसाईंजी ने ज्योंही हनुमानजी का स्मरण कर यह दोहा पढ़ा—

'बासर ढासनि के ढका रजनी चहुँ दिसि चोर।
दलत दयानिधि देखिए कपि केसरी किसोर॥'

कि हनुमानजी प्रकट हो गए और चोर भागते नजर आए।

इस पर एक और चमत्कारी कथा है। कोई पूछे कि वह विश्वनाथजी की सहीवाली प्रति, जिसकी रक्षा का इतना प्रबंध था,

आखिर गई कहाँ ? इसके लिये भी जवाब तैयार है। कहते हैं कि टोडरमल के यहाँ यह प्रति चाँदी की मंजूषा में रखी रहती थी। इसकी नित्यप्रति पूजा हुआ करती थी और बड़ी खबरदारी रखी जाती थी, क्योंकि गोसाईंजी ने पुस्तक के साथ साथ यह भी कहला भेजा था कि यदि यह तुम्हारे यहाँ से और किसी के घर जायगी तो इस लोक से लुप्त हो जायगी। कई पीढ़ियों के पीछे टोडर के वंश में अनंतमल हुए। यही कुल के प्रधान थे। इनकी परम प्रिय कन्या इस प्रति से बड़ा प्रेम रखती थी, उसकी वह नित्यप्रति पूजा किया करती थी। जब इसका विवाह हुआ तो ससुराल चलते समय इसने वह प्रति चुपके से अपनी डोली में रख ली। ज्योंही वह अपने पति के घर में उतरी त्योंही वह प्रति लुप्त हो गई और उस कन्या ने भी उसके वियोग में प्राण त्याग दिए। इस प्रकार खरहे के दोनों सींग लुप्त हो गए ! उनके लोप होते देर ही क्या लगती है !

जब चोरी की भी योजना सफल न हुई तब तंत्र-मंत्र की सहायता ली गई। वटेश्वर तांत्रिक काशी में बहुत प्रसिद्ध था। उसने अपने तंत्र-बल से गोसाईंजी की हत्या के लिये भैरवजी को प्रेरित किया। पर वहाँ बजरंगबली उनकी रक्षा के लिये पहले ही से प्रस्तुत थे। विफल होकर काशी के कोतवाल ने अपना क्रोध वटेश्वर पर ही उतारा और उसके प्राणों की हानि हुई।

इस समय बंगाल के पंडित रविदत्त शास्त्री काशी आए हुए थे। पंडितों ने इस क्रोधी ब्राह्मण को गोसाईंजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये उसकाया। हारकर यह उन्हें लट्ठ से मारने का मनसूबा कर दौड़ा। पर हनुमानजी को चौकसी पर देख भयभीत हुआ। तब चालाकी से काम निकालने की ठहराई गई। रविदत्त ने गोसाईंजी को, बहुत अनुनय-विनय करके, प्रसन्न किया और वरदान माँगा।

तुलसीदासजी ने जब वरदान देना स्वीकार किया तब उसने कहा कि आप काशी से अन्यत्र चले जाइए। गोसाईंजी क्या करते ?

'देवसरि सेवौं वामदेव गाँव रावरे ही
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे योग 'तुलसी' न लेत काहू को कछुक
लिखी न भलाई भाल पोचन करत हौं॥
एते पर हू जो कोऊ रावरे ह्वै जोर करै
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइकै उराहनो उराहनो न दीजै मोहि
काल-कला कासीनाथ कहि निवरत हौं॥

विश्वनाथजी की यह प्रार्थना कर वे चल दिए। शिवजी ने इधर गोसाईंजी को दर्शन देकर समझाया कि आप न जाइए, उधर काशी-वालों को भयभीत किया कि जाओ तुलसीदास को मना लाओ। यदि वह यहाँ से गया तो तुम्हारी कुशल नहीं है। टोडरमल सबको साथ लिए चले और गोसाईंजी को मना लाए; अस्सी घाट पर उसने उन्हें वास दिया। हमारा अनुमान है कि रविदत्त शास्त्री वाली बात सर्वथा कल्पित है। यह उस समय की जान पड़ती है जिस समय गोसाइयों के साथ बिगाड़ हो जाने के कारण गोसाईंजी गोपाल मंदिर छोड़ रहे थे। संभवतः उस समय उन्होंने काशी ही छोड़ने का विचार किया हो।

कहते हैं ब्रज में नाभाजी तथा अन्य वैष्णवों के साथ वे ब्रज-भूमि के देवस्थानों के दर्शनों के लिये गए तो उन्हें सर्वत्र कृष्ण के संबंध के मंदिर अथवा स्थान देखने को मिले। जिसके मुँह से सुना कृष्ण ही का यश सुना। किसी ने उनसे राम को कृष्ण से नीचा दिखाते हुए यहाँ तक कह दिया कि राम सोलह कला के ही

अवतार हैं जब कि कृष्ण चौंसठ कला-युक्त पूर्णावतार हैं। इस पर प्रियादासजी ने गोसाईंजी से कहलाया है—

'दसरथ सुत जानें सुंदर अनूप मानें ईसता बताई रति कोटि गुनी जागी है।'

नीचे लिखा दोहा भी किसी ऐसे ही प्रसंग का जान पड़ता है—

'जै। जगदीस तौ अति भलो जै। महीस तौ भाग।
जनम जनम तुलसी चहत राम-चरन-अनुराग॥'

वैसे तो ये राम और कृष्ण को एक मानते थे, क्योंकि दोनों एक ही विष्णु के अवतार थे। कृष्ण और राम दोनों के यशगान में इन्होंने कविता की है और एक की प्रशंसा करते हुए उस पर दूसरे के चरित का आरोप किया है। परंतु ब्रज में राम का सर्वथा बहिष्कार सा देखकर इन्हें बड़ा दुःख हुआ। इसी से उन्होंने कहा था—

'राधा कृष्ण सबै कहैं, आक ढाक अरु खैर।
तुलसी या ब्रज मों कहा, सिया राम सों बैर॥'

जब वैष्णव-मंडली के साथ गोसाईंजी गोपाल मंदिर में पहुँचे तब उनके हृदय में यह खेद बना हुआ था। इसी से, कहते हैं, कृष्ण भगवान् ने मुरली के स्थान पर धनुर्वाण हाथ में लेकर गोसाईंजी को दर्शन दिए और गोसाईंजी का खेद तथा कृष्ण-भक्तों का मोह मिटाया। इस पर गोसाईंजी ने कहा—

'मुरली मुकुट दुराइ कै, धरयौ धनुष सर हाथ।
तुलसी लखि रुचि दास की, नाथ भए रघुनाथ॥'

कोई कोई यह भी कहते हैं कि गोसाईंजी ने गोपाल मंदिर में जाकर नीचे लिखा दोहा पढ़ा था जिसके उत्तर में भगवान् ने कृष्ण रूप छोड़कर रामरूप ग्रहण किया था—

'कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥'

परंतु गोसाईंजी ऐसी उद्दंड प्रकृति के मनुष्य न थे कि भगवान् के सामने ऐसी गर्वोक्ति कहते और न यह उक्ति उनकी किसी रचना में ही मिलती है। इस घटना पर जब लोगों ने आश्चर्य प्रकट किया तब गोसाईंजी ने कहा इसमें आश्चर्य क्या है—

'प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रकटे नर केहरि खंभ महाँ।
झपराज ग्रस्यो गजराज कृपा तत्काल विलंब किए न तहाँ॥
सुर साखी दै राखी है पांडु-वधू पट लूटत कोटिन भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच-विमोचन को जन को पण राखो न राम कहाँ?'

यह घटना संतों में अत्यंत प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र कवि मोरो पंत ने भी इस घटना का उल्लेख किया है—

'श्रीकृष्णमूर्ति जेथें केली श्रीराममूर्ति सज्जन हो।
रामसुत मयूर म्हणे त्याचा सुयशोमृतांत मज्जन हो॥'

यह घटना इतनी मनोरम है कि हमारी मनोवृत्ति के अनुसार इसके असंभव होने पर भी हम इसकी ममता नहीं त्याग सकते और न इसे असत्य कहने की हमारी प्रवृत्ति ही होती है।

व्रज में जिस अभाव का गोसाईंजी अनुभव कर रहे थे उसकी पूर्ति के लिये उन्होंने एक और चमत्कार किया। दक्षिण से कुछ लोग रामचंद्र की एक मूर्ति अयोध्या में स्थापित करने के लिये ले जा रहे थे। व्रज में यमुना-तट पर उन्होंने विश्राम किया। एक बड़ा भक्त ब्राह्मण उस मूर्ति को देखकर मोहित हो गया। वेणीमाधवदास ने इस ब्राह्मण का नाम उदय बताया है। नवलकिशोर प्रेस के संस्करण-वाले अनुवाद में पंडित रामकिशोर शुक्ल ने उसे उदयप्रकाश कर दिया है। उसकी इच्छा हुई कि वह मूर्ति वहीं स्थापित हो जाय तो बहुत अच्छा हो। उसने गोसाईंजी से अपना अभिलाष कहा। यह बात उनको बहुत पसंद आई। उनकी करामात से वह मूर्ति वहीं पर अचल स्थिर हो गई। किसी के किए वह उस स्थान से

हिली डुली नहीं। अंत को हारकर उस मूर्ति को वहीं स्थापित कर देना पड़ा। गोसाईंजी की सम्मति से यशोदानंदन के अनुकरण पर उस मूर्ति का नाम कौशल्यानंदन रखा गया। व्रज में यह देवस्थान अब तक बतलाया जाता है। इस प्रकार कृष्ण-भूमि में राम-मूर्ति का अभाव दूर हुआ। लाला शिवनंदनसहाय के साथ हमारा तो अनुमान है कि गोस्वामीजी ने स्वयं इस मूर्ति की स्थापना की। इसके अतिरिक्त शेष सब कथा कल्पित है।

व्रज में गोसाईंजी ने एक और चमत्कार दिखलाया। महात्मा हितहरिवंशजी के पुत्र गोपीनाथजी ने गोसाईंजी को भोजन के लिये अमनिया भेजा। गोसाईंजी ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि यह अमनिया नहीं सखरा है। गोपीनाथजी स्वयं दौड़े आए और निवेदन किया कि महाराज मैंने तो अभी हलवाई की दुकान से मँगाया है, आप विश्वास कीजिए, यह अमनिया ही है। गोसाईंजी ने कहा चलिए हम आपको बता दें कि यह सखरा है। दुकानों पर जाकर गोपीनाथजी ने देखा कि सचमुच बालक कृष्ण सब पदार्थों को जूठा कर रहे हैं। सब चीजें भगवान् की अच्छी अवश्य हैं, पर जैसे मनुष्य भोजन करता है वैसे ही भगवान् भी करते हैं इसे चमत्कार-प्रियता ही कह सकते हैं।

कहते हैं, एक बार एक हत्यारा राम नाम लेता हुआ आत्म-ग्लानि का मारा सब पर अपना अपराध प्रकट करता भीख माँगता फिरता था। वह गोसाईंजी के आश्रम पर भी गया। गोसाईंजी ने उसका हार्दिक पश्चात्ताप तथा शुद्ध राम-भक्ति देखी तो उसे उन्होंने अपने पास बुला लिया और यह देखकर कि आत्मग्लानि और राम नाम ने उसे शुद्ध कर दिया है उसके साथ बैठकर भगवान् का भोग लगाया। पंडितों ने देखा कि हमारी व्यवस्था उलटी जाती है तो वे हो-हल्ला करने लगे। उन्होंने गोसाईंजी से जाकर पूछा कि

इसने प्रायश्चित्त तो किया ही नहीं है, आपने इसे शुद्ध कैसे मान लिया। गोसाईंजी ने सरल भाव से कहा कि राम नाम का प्रभाव ही ऐसा है। पंडितों ने कहा कि राम नाम का माहात्म्य तो बहुत कहा गया है, इसमें संदेह नहीं किंतु इस बात का क्या प्रमाण कि यह वास्तव में शुद्ध हो गया है। आप सामान्य व्यवस्था के विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। इसलिये प्रमाण की आवश्यकता होती है। गोसाईंजी ने कहा, जो परीक्षा तुम लोग चाहो कर देखो। पंडितों ने यह निश्चय किया कि यदि शिवजी का नंदी इसके हाथ का प्रसाद पावे तो यह शुद्ध माना जा सकता है अन्यथा नहीं। पंडित लोग तो जानते थे कि पत्थर का नंदी परमात्मा के हाथ से भी प्रसाद नहीं पायगा तब हत्यारे की बात क्या। परंतु उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि गोसाईंजी के कहने से नंदी ने हत्यारे का दिया प्रसाद पाया। इस पर कुछ कहना व्यर्थ है।

गोसाईंजी के दर्शन, उपदेश और उपकरण से कुछ प्रेतात्माओं के मुक्त हो जाने की भी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। वेणीमाधवदास ने योगश्री मुनि, नैमिषारण्य के प्रेत और केशवदास इन तीन प्रेतों के उद्धार की बात कही है। योगश्री मुनि का उद्धार चित्रकूट के पास हुआ था। एक बार गोसाईंजी कामद वन की परिक्रमा कर सौमित्रि पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्हें एक बहुत सुंदर साँप दिखाई दिया। यही योगश्री मुनि थे जो शाप-वश सर्प हो गए थे। गोसाईंजी की दृष्टि पड़ते ही उसके पाप धुल गए। योगश्री ने गोसाईंजी से प्रार्थना की कि मुझे स्पर्श कीजिए जिससे मेरा उद्धार हो। स्पर्श करते ही साँप लोप हो गया और योगश्री मुनि ने प्रकट होकर प्रणाम किया। अधिक से अधिक इसमें यही तथ्य हो सकता है कि गोसाईंजी ने वहाँ कोई साँप मारा हो।

नैमिषारण्य के प्रेत के उद्धार की कथा का अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। केशवदास ओड़छा के राजा इंद्रजीतसिंह के दरबारी कवि थे। उसके दरबार में सब बड़े धुरंधर पंडित और कवि थे। राजा को यह सोच सोचकर बड़ा खेद होता था कि एक न एक दिन रत्नों की यह अवलि छिन्न-भिन्न हो जायगी। किसी ने उन्हें यह उपाय बताया कि यदि प्रेत-यज्ञ किया जाय तो प्रेत-योनि में सब के सब एक साथ रह सकेंगे। इस बात को मानकर उन्होंने एक प्रेत-यज्ञ किया जिसमें सारी विद्वन्मंडली जलकर प्रेत हो गई। कहते हैं एक बार गोसाईंजी ओड़छे गए तो केशवदासजी पेड़ पर से चिल्लाने लगे कि महाराज हमारा प्रेत-योनि से उद्धार कीजिए। कोई कहते हैं कि केशवदासजी एक कुएँ में रहते थे। संयोगवश गोसाईंजी लोटा डोरी लेकर उसी कुएँ पर पानी लेने के लिये गए। केशवदास ने कुएँ में ही लोटा पकड़ लिया और कहा कि मेरा उद्धार करो नहीं तो छोड़ूँगा नहीं। गोसाईंजी ने कहा अपनी रामचंद्रिका २१ बार कह जाओ तो तुम्हारी मुक्ति हो। केशवदास ने कहा रामचंद्रिका तो मुझे संपूर्ण मुखाग्र है परंतु पहले छंद का पहला अक्षर नहीं आता है। गोसाईंजी ने उन्हें वह स्मरण दिला दिया और २१ बार रामचंद्रिका को दुहराकर वे मुक्त हो गए।

वेणीमाधवदास के अनुसार संवत् १६६९ से पहले दिल्ली जाते समय यह घटना हो चुकी थी। परंतु केशवदासजी की मृत्यु संवत् १६७५ में मानी जाती है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि १६६९ में वे जीवित थे। इस संवत् में उन्होंने जहाँगीर-जस-चंद्रिका की रचना की थी—

'सोरह से उनहत्तरा माधव मास विचारु।
जहाँगीर जसचंद्र की करी चंद्रिका चारु॥'

यदि यह घटना सत्य है तो इसे १६७५ के पीछे की होनी चाहिए।

परंतु इतनी जीर्ण अवस्था में गोसाईंजी ने ओड़छे की यात्रा की होगी, यह ग्राह्य नहीं है। अतएव इस किंवदंती में यदि कुछ सार दीख पड़ता है तो वह यही कि गोसाईंजी के रहते ही केशवदास इहलोकलीला संवरण कर चुके थे। इसी एक बात पर सब अनुमान बैठाए गए हैं।

परंतु जिस प्रेत ने गोसाईंजी को रामदर्शन का उपाय बतलाकर उनका इतना उपकार किया था उसका भी गोसाईंजी ने उद्धार किया या नहीं, यह ज्ञात नहीं। इधर तुलसी-चरित नामक बृहत् ग्रंथ के विषय में कहा जाता है कि गोसाईंजी उस प्रेत पर तीन सौ वर्ष तक इसकी रक्षा का भार सौंप गए थे। उपकार का बड़ा अच्छा बदला हुआ!

एक बार एक बहुत दरिद्र ब्राह्मण को दारिद्र्य के कष्ट से दुःखी होकर आत्महत्या के लिये उद्यत देख गोसाईंजी ने उसे पहले तो द्रव्य के बहुत अवगुण बताए, परंतु जब वह किसी तरह न माना तब मंदाकिनी से प्रार्थना कर उन्होंने दरिद्र-मोचन शिला प्रकट करवा दी, जिससे उस ब्राह्मण का कष्ट-निवारण हुआ। चित्रकूट में रामघाट पर जहाँ यह घटना हुई थी उसका नाम अब तक दरिद्रमोचन है।

इसी प्रकार काशी में भी गोसाईंजी ने एक और ब्राह्मण की सहायता के लिये गंगाजी से प्रार्थना कर गंगा-पार कुछ भूमि छुड़वा दी। वेणीमाधवदास ने इस ब्राह्मण का नाम हरिदत्त लिखा है। लाला शिवनंदनसहाय का अनुमान है कि दरियाई भूमि को गोसाईंजी के कहने से किसी सरकारी अधिकारी ने ही उस ब्राह्मण को दे दिया होगा। यही बहुत संभव जान पड़ता है।

एक बार एक तांत्रिक यात्रा पर गया हुआ था। घर में उसकी स्त्री को एक वैरागी ले भागा। तांत्रिक को यक्षिणी सिद्ध थी।

जब उसको घर आकर यह दुर्घटना विदित हुई तब उसने बादशाह को पकड़ मँगाया और हुक्म जारी करवा दिया कि चाहे जिसके गले में माला मिले, वह उतार ली जाय और चाहे जिसके माथे पर तिलक हो, वह मिटा दिया जाय। काशी के वैरागियों में हाहाकार मच गया। उन्होंने गोसाईंजी से जाकर विनय की। गोसाईंजी ने उन्हें धैर्य बँधाया। गोसाईंजी के चमत्कार से राज-दूतों को जहाँ तहाँ भयंकर काल-रूप दिखाई दिया। डर के मारे सब भाग गए। जिन लोगों के गले से कंठी माला उतरी थी उनके गले में वे आपसे आप पहुँच गईं और उनके माथे पर तिलक भी ज्यों के त्यों हो गए। हो सकता है कि शाही अत्या-चार की बात सच्ची हो और तांत्रिक का भाग उसमें गढ़ंत। जहाँ-गीर जब गद्दी पर बैठा था तब काशी में उसकी आज्ञा से कुछ उप-द्रव हुआ था। संभवतः गोसाईंजी के समझाने से अधिकारियों ने यह अत्याचार बंद किया हो, जिससे चमत्कार के लिये आधार मिला हो।

यह बात प्रसिद्ध है कि गोसाईंजी ने किसी सद्यःविधवा स्त्री के पति को फिर से जिला दिया था। वेणीमाधवदास ने ऐसी दो घट-नाओं का उल्लेख किया है और इस संबंध में कम से कम पाँच मृतकों को गोसाईंजी के हाथ से जीवन-दान कराया है। एक घटना उस समय की बताई गई है जब गोसाईंजी जनकपुर की यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में वे हंसपुरा में ठहरे थे। यहाँ परसी नाम की एक स्त्री का पति उसी दिन मरा था। गोसाईंजी ने उसे जिला दिया। किस प्रकार, यह लिखा नहीं है। दूसरी घटना दिल्ली से लौट आने के बहुत दिन पीछे की है। काशी में भुलई साहु नाम का एक कलवार था। वह साधु संतों की निंदा किया करता था। परंतु शायद इसकी स्त्री स्वाभाविक ही साधु संतों पर

निष्ठा रखती थी। एक दिन भुलई साहु मर गया और लोग उसे टिकठी पर रख फूँकने ले चले। कुछ दूर पीछे पीछे उसकी स्त्री भी रोती कलपती चली। रास्ते में उसे गोसाईंजी मिले। उसने उन्हें नम्रता-पूर्वक प्रणाम किया। गोसाईंजी को वस्तुस्थिति की जानकारी तो थी नहीं, साधारण ढंग से उसे सौभाग्य-वृद्धि का आशीर्वाद दे बैठे। उसने कहा महाराज आपका वचन तो झूठा हुआ चाहता है। मेरा पति मर गया है और अभी अभी लोग उसे जलाने के लिये ले गए हैं। गोसाईंजी ने शव को वापिस मँगवाया और चरणामृत देकर उसे जीवित कर दिया।

इस घटना के उपरांत गोसाईंजी ने बाहर निकलना ही छोड़ दिया, क्योंकि इससे उन्हें असंभव घटनाओं को संभव करने के लिये अपने इष्टदेव को कष्ट देना पड़ता था। केवल अपने तीन भक्तों को दर्शन देने के लिये वे बाहर निकलते थे। वेणीमाधवदास ने इनके नाम और निवासस्थान भी बतलाए हैं। हृषीकेश मणिकर्णिका घाट पर रहता था, शांतिपद विश्वनाथजी के और दाता-दीन अन्नपूर्णा के मंदिर में। गोसाईंजी का दर्शन करके भगवान् के चरणामृत पाकर घर जाना, यह उनका नित्य का नियम था। इसी से गोसाईंजी को इनकी टेक का निर्वाह करना पड़ा। परंतु लोगों ने इससे गोसाईंजी पर पक्षपात का दोषारोपण किया। गोसाईंजी ने उनको भक्ति दिखलाने के उद्देश्य से एक दिन उन्हें भी दर्शन न दिया। फल यह हुआ कि ये दरवाजे पर तड़पकर मर गए। तब लोगों को उनमें और अपने में भेद मालूम हुआ। गोसाईंजी ने तीनों को चरणामृत देकर जीवित कर दिया। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि वस्तुतः मनुष्य की मृत्यु नहीं होती है परंतु बाहरी लक्षणों से लोग उसे मरा हुआ समझते हैं और उसकी अंत्येष्टि क्रिया के लिये उपक्रम करने लगते हैं परंतु इतने में उसमें

चेतनता आ जाती है। संभवत: ऐसी ही कोई बात हुई होगी जिसका गोसाईंजी से उनके श्रद्धालु भक्तों की कृपा से आगे चलकर संबंध हो गया हो। स्थान और काल के अनिश्चय के कारण किंवदंती ने कई रूप पकड़े होंगे और अंत में मूल चरितकार ने दो अलग अलग घटनाओं के रूप में उसे स्वीकार कर लिया। इसमें तो संदेह नहीं कि तीन बटुओं की बात तो अतिशयोक्ति मात्र है, जिसका उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि गोसाईंजी पर लोगों की कितनी श्रद्धा भक्ति थी।

इसी प्रकार महाराज रघुराजसिंह ने गोसाईंजी के एक ब्राह्मण के बालक को हनुमानजी के द्वारा यमपुर से लौटा मँगवाने की बात लिखी है।

कहते हैं, एक दिन गोसाईंजी जाड़े की ऋतु में गंगा-स्नान करके छाती तक पानी में खड़े जप कर रहे थे। इसी समय दुशाले से शरीर को खूब लपेटकर एक वेश्या पास से होकर निकली। उसकी दृष्टि जब गोसाईंजी पर पड़ी तो वह आश्चर्य-चकित होकर ठहर गई। अपनी दशा की उस तपस्वी की दशा से तुलना करती हुई वह बहुत समय तक वहीं खड़ी रही। ध्यान से निवृत्त होकर गोसाईंजी तट पर आए और अपने वस्त्रों पर गंगाजल छिड़कने लगे। एक-दो बूँदें उस वेश्या के शरीर पर भी पड़ गईं। जिस पवित्र भाव से गोसाईंजी पानी छिड़क रहे थे उन बूँदों के साथ उस भाव का भी प्रभाव उसके मन पर पड़ा। उसके मन में निर्वेद जागरित हो गया। उसे अपने काम पर ग्लानि होने लगी। गोसाईंजी से उपदेश ग्रहण कर वह हरिभजन में मग्न रहने लगी। यद्यपि उस वेश्या का नाम हमें मालूम नहीं है और यह घटना किसी भावुक श्रद्धालु की कल्पना भी हो सकती है, परंतु इस घटना में असंभावना कुछ भी नहीं है। सच्चे तपश्चरण का प्रभाव ही ऐसा पारगामी होता है।

अनन्यता और प्रभविष्णुता साथ साथ चलती हैं। जिस भक्ति में प्रभविष्णुता न हो वह ढोंग है। और यह कहना कि दो बूँद पानी से सहसा ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता है, यह दूसरे प्रकार का ढोंग होगा।

हम अन्यत्र कह आए हैं कि नैमिषारण्य को जाते हुए मार्ग में रामपुर में गोसाईंजी ने एक वृक्ष लगाया था जिसका उन्होंने वंशीवट नाम रखा था। किंवदंती है कि गोसाईंजी ने एक सूखी टहनी पृथ्वी में गाड़ दी थी। उसी ने जड़ें ले लीं और यथासमय हरी-भरी होकर वह वंशीवट कहलाई।

इन करामातों की कथा जहाँगीर बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने गोसाईंजी को दिल्ली आने का निमंत्रण दिया। रहते तो बादशाह अधिकतर आगरे और सीकरी में थे। सीकरी ही में उसका जन्म भी हुआ था, परंतु समय समय पर वह दिल्ली आया जाया करते थे। स्वामीजी निमंत्रण स्वीकार करके चले; मार्ग में चरखारी में ठहरे।

चरखारी के ठाकुर पर एक बड़ी आपत्ति आई हुई थी। उसकी एक अत्यंत रूपवती कन्या थी, जिसका एक कन्या ही से विवाह हो गया था। वर की माता ने कन्या के जन्म लेते ही यह प्रसिद्ध करा दिया था कि पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह बात बहुत छिपाकर रखी गई थी। अगर कभी कोई इस बात को जान भी जाता तो द्रव्य से उसकी पूजा हो जाती थी। इसी से यह भेद खुलने न पाया और यह अनहोनी बात हुई। जब विवाह हो गया तब बात खुली और चरखारी में शोक छा गया। इसी अवसर पर गोसाईंजी वहाँ पहुँचे। ठाकुर और अन्य लोगों ने गोसाईंजी को घेर लिया। वे करुण विनती करते हुए उनके चरणों में जा गिरे। उन्होंने प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय बतलाइए जिससे इस विकट अवस्था से

शास्त्र-मर्यादा का व्यतिक्रम न करते हुए उद्धार हो जाय। गोसाईंजी को दया आई और नौ दिन चरखारी में रहकर उन्होंने रामचरितमानस का पाठ किया जिससे, कहते हैं, ठाकुर की लड़की का नारी-पति पुरुष हो गया। उसी दिन से शायद रामचरितमानस के नवाह्निक पाठ की महिमा मानी जाने लगी। आजकल मानस के कई संस्करणों में नवाह्निक के स्थल भी प्रदर्शित किए मिलते हैं। किस किस स्थल पर गोसाईंजी ने इस नौ दिन के पाठ में विश्राम किया था उनका वेणीमाधवदास ने भी निर्देश किया है। अंत की चौपाइयों के आरंभिक अक्षर ये हैं—

(१) हिय, (२) सत, (३) कीन्ह, (४) श्याम, (५) रामशैल, (६) हारिपगा, (७) कह मारुत-सुत, (८) जहँ तहँ, (९) पुण्य।

यह सत्य घटना है अथवा मनगढ़ंत, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। नारी से पुरुष हो जाने के कई उदाहरण मिलते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि कभी कभी पुरुषत्व के चिह्न छिपे रहते हैं। घटना-विशेष से अवसर पाकर वे फिर प्रकट हो जाते हैं। समाचार-पत्रों में भी समय समय पर ऐसी घटनाओं के समाचार छपा करते हैं। मेढकों पर प्रयोग करके वैज्ञानिकों ने यह भी दिखा दिया है कि वैज्ञानिक विधानों से भी जान-बूझकर वर्ग-परिवर्तन कर दिया जा सकता है। अतएव यह असंभव नहीं कि चरखारी के ठाकुर का जामाता पहले स्त्री-रूप रहा हो और फिर पुरुष हो गया हो। परंतु तुलसीदासजी के नवाह्निक पाठ से ऐसा हुआ था, यह मानने में हमें संकोच होता है। भक्ति के प्रभाव से हृदय में परिवर्तन हो सकता है, लोगों के वर्ग में नहीं। संभव है, यह घटना वस्तुतः घटी हो और आगे चलकर लोगों ने गोसाईंजी से इसका संबंध जोड़ दिया हो। इस घटना के समर्थन में गोसाईंजी के दो दोहे उपस्थित किए जाते हैं—

'कबहुँक दरशन संत के पारस मनी प्रतीत ।
नारी पलट सो नर भयो लेत प्रसादी सीत ॥
तुलसी रघुबर सेवकहिं मिटिगो कालोकाल ।
नारी पलट सो नर भयो ऐसो दीनदयाल ॥'

परंतु हमारी समझ में इन दोहों से गोसाईंजी का और ही अभिप्राय है जिसे हमने उनके वास्तविक सिद्धांतों के अंतर्गत स्पष्ट किया है।

चरखारी से गोसाईंजी आगे बढ़े और पाँचवें दिन दिल्ली पहुँचे। बादशाह को जब खबर हुई तब उसने बड़े आदर से दरबार में ले आने के लिये अपने आदमी भेजे। दरबार में पहुँचने पर बादशाह ने उनकी बड़ी आवभगत की; अनंतर कुछ चमत्कार दिखलाने की प्रार्थना की। गोसाईंजी ने बड़े नम्र भाव से कहा, हमारे तो एक राम नाम आधार है। उसके अतिरिक्त हम कुछ और नहीं जानते, करामात से हमारा कोई संबंध ही नहीं। परंतु बादशाह इस पर बहुत क्रुद्ध हो गया। उनकी नम्रता की प्रशंसा करने के बदले उसने उनको कारागृह में बंद कर दिया और कहा कि जब तक कोई करामात न दिखाओगे, छूटने न पाओगे।

कहते हैं, इस समय गोसाईंजी ने हनुमानजी की स्तुति में निम्न-लिखित पद और कवित्त बनाए—

'कानन भूधर बारि बयारि दवा बिष ब्याल महा अरि घेरे ।
संकट कोटि परो तुलसी तहँ मातु पिता सुत बंधु न नेरे ॥
राखिहैं राम कृपा करिकै हनुमान से पायक हैं जिन केरे ।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥

तोहि न ऐसी बूझिए हनुमान हठीले ।
साहेब काहु न राम से तुम से न वसीले ॥
तेरे देखत सिंह के सुत मेढक लीले ।
जानत हूँ कलि तेरेऊ मनो गुनगन कीले ॥

हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले ।
सो बल गयो कि भए अब कुछ गर्व गहीले ॥
सेवक को परदा फटै तू समरथ सीले ।
अधिक आपु तें आपु में सनमान सहीले ॥
सांसति तुलसीदास की देखि सुजस तुही ले ।
तिहुँ काल तिन को भलो जे। राम रँगीले ॥'

यह प्रार्थना सुनकर हनुमानजी ने अपने बंदरों को बुलाकर बादशाह को पाठ पढ़ाने भेजा। बंदरों ने कोट का विध्वंस करना आरंभ कर दिया। बादशाह की भी दुर्गति की। बेगमों के वस्त्र फाड़ डाले। बादशाह को त्राहि त्राहि करते हुए गोसाईंजी के चरणों में पड़ना ही सूझा। फिर गोसाईंजी ने उत्पात बंद करने के लिये हनुमानजी की प्रार्थना की। कहते हैं, गोसाईंजी ने उस समय यह पद कहा—

'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी ।
इनको बिलगु न मानिए बोलहिं न बिचारी ॥
लोक-रीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी ।
अति बरसे अनबरसेहु देहिं दैवहिं गारी ॥
ना कहि आए नाथ सों भई सांसति भारी ।
करि आए, कीबी छमा निज ओर निहारी ॥
समय सांकरो सुमिरिए समरथ हितकारी ।
सो सब बिधि दाया करै अपराध बिसारी ॥
बिगरी सेवक की सदा साहेब ही सुधारी ।
तुलसी पै तेरी कृपा निरुपाधि निहारी ॥'

तब बंदरों का उपद्रव कम हुआ। बादशाह के जी में जी आया। गोसाईंजी ने बादशाह को उपदेश दिया कि इस कोट को छोड़ दो, क्योंकि इसमें अब हनुमानजी का वास हो गया है, और अपने

लिये नया कोट बनाओ। बादशाह ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर ऐसा ही किया।

प्रियादासजी ने भी यह कहानी लिखी है और कहा है कि अब तक इस कोट में कोई नहीं रहता। स्वयं गोसाईंजी ने एक स्थल पर हनुमानजी को 'बंदिछोर' कहकर स्मरण किया है—

'बंदिछोर बिरुदावली निगमागम गाई।
नीको तुलसीदास को तेरिए निकाई॥'

इससे ज्ञात होता है कि गोसाईंजी कहीं कैद हुए थे और वहाँ से अपने छुटकारे का कारण वे हनुमानजी की दया मानते थे। अथवा, किसी अन्य व्यक्ति का कारागृह से छुटकारा वे हनुमानजी की कृपा से मानते थे। चुनारगढ़ के राजा को उन्होंने बादशाह के बंदित्व से छुड़वाया था, यह प्रसिद्ध ही है। हो सकता है कि जहाँगीर ने इन्हें बुलाया हो और कुछ दिन कैद रखा हो। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बात असंभव नहीं, क्योंकि गोसाईंजी बहुत समय तक जहाँगीर के समसामयिक रहे। जहाँगीरनामा में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। कदाचित् जहाँगीर इसे अपने लिये कलंक की बात समझता हो कि मैंने व्यर्थ ही एक साधु को सताया। इससे उसका अपने ग्रंथ में उल्लेख न होने दिया हो। जो हो, पर बंदरों के उत्पात की कथा किंवदंती ही जान पड़ती है। ऐसा संभव जान पड़ता है कि दिल्ली के नए किले के बनने पर पुराने किले में बंदरों के डेरा डालने और कोट तहस-नहस कर देने से ही यह बात प्रसिद्ध हुई होगी। परंतु नया कोट जहाँगीर ने नहीं, बल्कि उसके लड़के शाहजहाँ ने बनवाया था जो गोसाईंजी की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद तख्तनशीन हुआ। बैजनाथदासजी का यह कथन, कि जहाँगीर ने अपने बेटे शाहजहाँ के नाम से नई दिल्ली बसाई थी, सरासर गलत है। वास्तव में नई दिल्ली को शाहजहाँ ही ने बसाया था।

कमलभव नाम के एक व्यक्ति ने गोसाईंजी से प्रार्थना की कि कृपा करके रामचंद्रजी का दर्शन करा दीजिए। गोसाईंजी ने उसे अनधिकारी समझ यह कहकर टालना चाहा होगा कि 'यह कोई आसान बात नहीं है'। परंतु जब उसने हठ किया तब उन्होंने कहा कि पेड़ के नीचे त्रिशूल गाड़कर ऊपर से उस पर कूद जाओ, अवश्य राम के दर्शन होंगे। गोसाईंजी का तात्पर्य यह था कि भगवान् प्रेम के वश होते हैं, प्रेमी को ही वे दर्शन देते हैं और प्राणों के मोह का परित्याग प्रेम का एक आवश्यक लक्षण है। तुम भगवद्दर्शनों के अधिकारी हो, यह सिद्ध करने के लिये यह दिखलाना होगा कि तुम्हें किसी तरह प्राणों का मोह नहीं है।

कमलभव ने नीचे बर्छा गाड़कर कई बार पेड़ पर से उसके ऊपर कूदने का प्रयत्न किया, परंतु उसे साहस न हुआ। यहाँ तक तो कथा ठीक है, क्योंकि गोसाईंजी जानते थे कि कमलभव में इतना साहस नहीं है परंतु आगे बढ़कर जब किंवदंती कहती है कि एक पछाहीं वीर को, जो उधर से होकर जा रहा था, कुतूहल-वश पूछने पर जब वस्तु-स्थिति ज्ञात हुई तो वह झट से पेड़ पर चढ़कर त्रिशूल पर कूद पड़ा और उसे भगवान् के दर्शन हुए, तब अविश्वास के लिये अवसर निकल आता है।

गोसाईंजी के विषय में और भी कई छोटी-बड़ी चमत्कारी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, परंतु उनको जैसी मिलें वैसी ही स्वीकृत नहीं कर लेना चाहिए। नमक-मिर्च के लिये जगह छोड़कर तथा संभव-असंभव का विचार करके उनका ग्रहण अथवा परित्याग करना चाहिए।

---

(११) गोसाईंजी की कला

गोसाईंजी भक्ति के क्षेत्र में जितने महान् थे उतने ही कविता के क्षेत्र में भी। वस्तुतः उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप थी। उनकी भक्ति ही वाणी का आवरण पहनकर कविता के रूप में व्यक्त हुई थी। उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नहीं थी। 'कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीना' में जहाँ उनके विनय का पता चलता है वहाँ यह भी संकेत है कि वे अपने को कवि न समझकर कुछ और समझते थे। जिस बड़ी उम्र में उन्होंने कविता करना आरंभ किया था उससे पता चलता है कि जिसे मिल्टन उन्नतमनाओं की निर्बलता कहते हैं वह यशोलिप्सा उन्हें छू तक नहीं गई थी। उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल 'कवि-चातुर्य' के फेर में पड़कर नहीं बल्कि इसलिये कि बिना कहे उनका जी नहीं मानता था, उन्हें चैन नहीं मिलता था। 'स्वांतःसुखाय मतिमंजुलमातनोति' में के 'स्वांतःसुखाय' का यही तात्पर्य है। रामचंद्र के अनंत रूप अनंत शक्ति अनंत शील की जो एकांत आनंदानुभूति उनको हो रही थी उसे वे आत्म-परिवृत होकर ही उपभोग नहीं कर सकते थे। संसार को भी उसमें भागी कर लेना अनिवार्य था। यही आकुलता कविता को अबाध प्रवाह देती है। प्रयत्न-प्रसूत कविता वास्तविक कविता नहीं कही जा सकती। उसमें कविता का बहिरंग हो सकता है किंतु यह आवश्यक नहीं कि जहाँ कविता का बहिरंग दिखाई दे वहाँ उसका आभ्यंतर भी मिल जाय। क्योंकि कविता हृदय का व्यापार है, दिमाग को खुजलाकर उसका आवाहन नहीं किया जा सकता। जो आपसे आप उदय न हो वह वास्तविक कविता नहीं। सच्ची, स्पंदन करती हुई

सजीव कविता के लिये यह आवश्यक है कि कवि की मनोवृत्तियाँ वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जायँ। जब कवि की सब भावनाएँ एकमुख होकर जागरित हो उठती हैं, तब कवि का हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यक्ति के लिये न कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न कोई बाहरी रुकावट उसे रोक ही सकती है। गोसाईंजी में इस तल्लीनता की पराकाष्ठा हो गई थी, इसमें कोई संदेह नहीं। उनकी निःशेष मनोवृत्तियाँ रामाभिमुख होकर जागरित हुई थीं, इसी से—

'प्रेम उमगि कवितावली चली सरित सुचि सार।
राम-वरा-पुरि मिलन हित तुलसी हरख अपार॥'

राम के साथ उनकी मनोवृत्तियों का इतना तादात्म्य हो गया था कि जो कोई वस्तु उनके और राम के बीच व्यवधान होकर आवे उससे कदापि उनके हृदय का लगाव न हो सकता था। यही कारण है कि राम के अतिरिक्त किसी के विषय में उन्होंने अपनी वाणी का उपयोग नहीं किया। उनकी वाणी एकमात्र राम के यशोगान से यशोभिमंडित हुई है। रीति-काल के कवियों की तरह वे जगह जगह लक्ष्मी के वर-पुत्रों की चाटुकारी करते नहीं फिरते थे। नर-काव्य करना वे अनुचित समझते थे—

'कीन्हे प्राकृत जन गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'

टोडर के संबंध में उन्होंने जो दो-चार दोहे कहे हैं वे भी इसलिये कि—

'तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥'

रामकथा का आदि स्रोत वाल्मीकीय रामायण है। गोसाईंजी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रंथ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण गोसाईंजी ने इन कवीश्वर की भी वंदना की है; और

इन्हीं के साथ हनुमन्नाटककार कपीश्वर की भी क्योंकि हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इनके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्म-रामायण, महारामायण, भुशुंडि रामायण, याज्ञवल्क्यरामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भरद्वाजरामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घ्य-राघव, रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रंथों की छाया रामचरितमानस में मिलती है। श्रीरणवीरसिंहजी ने रामचरितमानस के उद्गमों के संबंध में बड़ा सराहनीय और परिश्रमजन्य अनुसंधान किया है, जिससे पता चलता है कि गोसाईंजी की प्रत्येक पंक्ति संस्कृत से ली गई है।

यहाँ पर कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा—

मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमल दहन॥
(मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वंदे परमानंद माधवं)॥
वंदउँ मुनि-पद-कंज, रामायन जेहि निरमएउ।
सखर सकोमल मंजु, दोष-रहित दूषन-सहित॥
(नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणीकथा।
सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सकोमला)॥
एक छत्र एक मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥
(निर्वर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराधिकम्।
सर्वेषां मुकुटं छत्रं मकारो रेफव्यंजनम्॥)
ब्रह्मांडनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
(जठरे तव दृश्यंते ब्रह्मांडाः परमाणवः।
त्वं ममोदरसंभूत इति लोकान् विडंबसे॥)

इसी प्रकार किष्किंधा कांड में वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन श्रीमद्भागवत से लिए गए हैं। जहाँ जहाँ गोसाईंजी ने दार्शनिक निरूपण किया वहाँ वहाँ विशेषतः भगवद्गीता की सहायता ली है।

रामचरितमानस में ही नहीं, प्रायः सब ग्रंथों में उन्होंने संस्कृत से सामग्री ली है। यहाँ केवल कवितावली से एक उदाहरण देंगे—

आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जनम,
सूकर के सावक ढकाढकेला मग में।
गिरयो हिय हहरि हराम हो हराम हन्यो,
हाइ हाइ करत परीगो काल फग में॥
तुलसी विसोक ह्वै त्रिलोकपति-लोक गयो,
नाम के प्रताप, बात विदित है जग में।
सोइ रामनाम जो सनेह सों जपत जन,
ताकी किमि महिमा कही है जात जग में॥

(दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो
हा रामेति हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्।
तीर्णो गोपदवद्भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावात् पुनः
किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यांति रामास्पदम्॥)—वाराहपुराण।

इस दृष्टि से देखने पर गोसाईंजी के अपनी रामायण को 'छत्रों शास्त्र सब ग्रंथन को रस' कहने की यथार्थता प्रकट हो जाती है। गणित, ज्योतिष, दर्शन आदि सभी शास्त्रों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। तुलसी सतसई में उनका गणित ज्ञान भली भाँति प्रकट होता है। नौ के पहाड़े का यह रहस्यमय प्रयोग देखिए—

तुलसी राम सनेह करु त्यागु सकल उपचार।
जैसे घटत न अंक नौ नौ के लिखत पहार॥

इसी प्रकार 'जग ते रहु छत्तीस (३६) ह्वै, राम चरन छः तीन (६३)' में अंकों की स्थिति का अच्छा परिज्ञान प्रगट होता है।

ज्योतिष का ज्ञान देखिए—

'स्रुति गुन कर गुन पुजुग मृग हय रेवती सखाउ।
देहि लेहि धन धरनि श्ररु गएहु न जाइहिं काउ॥

दोहावली और सतसई में इसी प्रकार के कई दोहे हैं। गीतावली में एकाध अलंकारों में भी गोसाईंजी ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का उपयोग किया है। दर्शनशास्त्र के पूर्ण परिज्ञान की झलक तो उनकी रचनाओं में पद पद पर मिलती है। गोसाईंजी ने अपने इस आभार को—

'नानापुराणनिगमागमसंमतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।'

कहकर स्वीकार किया है।

परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि गोसाईंजी ने रामचरितमानस लिखने के लिये इन ग्रंथों को पढ़ा था। वे राम के अन्यतम भक्त थे, इसलिये उन्होंने राम-संबंधी सभी लभ्य साहित्य पढ़ा था। सबके विवेकोचित त्याग और सारग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मंजुल लोक-रक्षक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया, उसी को उन्होंने रामचरितमानस के रूप में जगत् के सामने रखा। इसी परित्याग और ग्रहण में उनकी मौलिकता है जिसका रूप उनकी प्रबंध-पटुता के योग में अत्यंत पूर्णता के साथ खिल उठता है। केवल एक स्थान पर गोसाईंजी के संस्कृत से सामग्री-चयन का अनौचित्य खटकता है—

'सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ॥
राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवति सास्त्र नृपती बस नाहीं॥

यह निम्नलिखित श्लोक का अनुवाद है—

'शास्त्रं सुचिंतितमपि प्रतिचिंतनीयं
स्वाराधितोऽपि नृपतिः परिशंकनीयः।

अंके स्थिताऽपि युवतिः परिरक्षणीया
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥'

इसमें उपदेश चाहे जितना अच्छा हो, या भाव सांसारिक व्यवहार को देखते हुए चाहे जितना सच्चा हो, परंतु जिस स्थान पर गोसाईंजी ने इसे कहा है उस स्थान पर इसका कहना उचित नहीं है। यदि सीताजी राम से प्रेम न होने के कारण स्वयं अपनी इच्छा से रावण के साथ गई होतीं तभी यहाँ पर इसकी संगति बैठती। परंतु जिस सीता के लिये राम के हृदय में—

'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता ॥'

यह धारणा हो, उसको उद्देश्य करके "जुवति × × × बस नाहीं" कहना सर्वथा अनुचित और अप्रासंगिक है।

परंतु इतने बृहद् ग्रंथ में गुण-बाहुल्य के बीच यह एक अनौचित्य दब सा जाता है।

वाल्मीकि ने बरात के जनकपुर से चले जाने के पीछे मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। परंतु गोसाईंजी ने इस घटना को हनुमन्नाटक के अनुसार धनुष-भंग के पीछे यज्ञ-भूमि में ही घटित किया है। इससे एक तो लड़ने के लिये उद्यत राजाओं की बोलती बंद हो गई और दूसरे बरात के टोके जाने की अमंगल घटना न हुई। परंतु गोसाईंजी ने हनुमन्नाटक से भी इस अवसर पर कुछ भेद रखा है। हनुमन्नाटक के अनुसार रामचंद्र का परशुराम से वाग्युद्ध भी हुआ था। परंतु गोसाईंजी ने इसे रामचंद्र के महत्त्व के अनुकूल न समझकर लक्ष्मण के बाँट में रखा है। जानकी-मंगल में न जाने क्यों गोसाईंजी ने इस विषय में वाल्मीकि ही का अनुसरण किया है। गीतावली में तो यह घटना गोसाईंजी ने दी ही नहीं है।

वाल्मीकि ने जयंत का काक-रूप में आकर सीताजी के स्तन देश में चोंच मारना लिखा है और इस कथा को सुंदरकांड में सीता के

मुँह से हनुमानजी के प्रति कहलाया है, जिससे वे राम के पास जाकर सीता के मिल जाने का प्रमाण दे सकें। गोसाईंजी जगज्जननी सीता के विषय में ऐसी बातें कह नहीं सकते, इससे उन्होंने अध्यात्म-रामायण के अनुसार चरण में चोंच मारना लिखा है और इस घटना का उल्लेख पंचवटी के ही वर्णन के अंतर्गत किया है।

सेतुबंध के समय शिवजी की स्थापना की ओर वाल्मीकि ने रामचंद्र के एक कथन में संकेत भर किया है किंतु गोसाईंजी ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है, क्योंकि उन्हें वैष्णवों और शैवों की एकता संपादित करना अभीष्ट था।

छोटे-मोटे प्रसंगों और विवरणों में यत्र-तत्र और भी बहुत भेद मिलता है।

गोसाईंजी की प्रबंध-पटुता का परिचय एक इसी बात से मिल सकता है कि रामचरितमानस की कथा को तीन व्यक्ति तीन श्रोताओं से कह रहे हैं। गोसाईंजी अंत तक इस बात को भूले नहीं हैं और समय समय पर पाठक को इस बात की याद मिलती रहती है कि गरुड़ से भुशुंडि कथित कथा को शिव पार्वती से और शिव कथित कथा को याज्ञवल्क्य भरद्वाज से कह रहे हैं।

कथा का रस यदि बिगड़ता है तो गोसाईंजी के बार बार यह याद दिलाने से कि राम परब्रह्म परमात्मा थे और कभी स्वयं रामचंद्र के मुँह से यह आभास दिलाने से कि मैं परब्रह्म हूँ। अपने कपि मित्रों को विदा करते हुए राम कहते हैं—

'अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित, जानि करेहु अति प्रेम॥'

यदि कोई यूरोपीय कह बैठे कि बंदरों के ही ऊपर इस कथन का प्रभाव हो सकता था, तो उसके लिये अवकाश है। परंतु भक्तों के लिये इसी में सौंदर्य है! कहीं कहीं गोसाईंजी असंभव बातें भी

लिख गए हैं। बादलों का श्रद्धा के कारण किसी पथिक पर छाया करने की उद्भावना अस्वाभाविकता की सीमा तक नहीं पहुँचती। पृथ्वी पर न उतरकर देवताओं के आकाश ही से फूल गिराने तक भी गनीमत है, किंतु राम के लिये सीधे स्वर्ग से इंद्र का रावण से लड़ने के लिये रथ भेजना अस्वाभाविक लगता है।

जिस प्रकार गोसाईंजी का जीवन राम-मय था उसी प्रकार उनकी कविता भी। एक राम को अपनाकर उन्होंने सारे जगत् को अपना लिया। रामचरित कहकर कोई वस्तु ऐसी न रही जिसके विषय में उनके लिये कहना शेष रह गया हो। राम-चरित्र की व्यापकता में उन्हें अपनी कला के संपूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उसी में उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अंतः प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। दोनों को उन्होंने भिन्न भिन्न परिस्थितियों में देखा था। उनकी पारगामी सूक्ष्म दृष्टि उनके अंतस्तल तक पहुँची थी। इसी से उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परंतु गोसाईंजी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के मनुष्य थे। सबके संरक्षक राम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का प्रेमी बनाया था, जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी संलग्न दिखाई देती थी। पंपा सरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

'फल भर नम्र विटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥
सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्हि के दिन सुख संजुत जाहिं॥'

प्राकृतिक दृश्यों में शील-संरक्षिका धर्मशीला नीति की यह छाया उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किंधाकांड के अंतर्गत वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोसाईंजी

का महत्त्व है कि धर्म-सादृश्य, गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-योजना के सामान्य नियमों का निर्वाह करते हुए भी वे शील और सुरुचि के प्रसार में समर्थ हुए हैं।

गोसाईंजी का प्रकृति से परिचय केवल परंपरागत नहीं था। उन्होंने प्रकृति के परंपरागत प्रयोगों को स्वीकार किया है, परंतु वहीं तक जहाँ तक ऐसा करना सुरुचि के प्रतिकूल न पड़ता। सीता के वियोग में विलाप करते हुए रामचंद्र के इस कथन में—

'खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप-निकर, कोकिला प्रबीना॥
कुंदकली, दाड़िम, दामिनी। कमल, सरद ससि, अहि-भामिनी॥
बरुन-पास, मनोज-धनु, हंसा। गज, केहरि, निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल, कनक, कदलि, हरपाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥'

उन्होंने कवि-परंपरा का ही अनुसरण किया है। ये उपमान न जाने कब से भिन्न भिन्न अंगों की, विशेषकर स्त्रियों के अंगों की, सुंदरता के प्रतीक समझे जाते हैं। मूल रूप में ये मनुष्य-जाति की, और विशेषकर उनके अधिक भावुक अंग अर्थात् कवि-समुदाय की, निसर्ग-सौंदर्य-प्रियता के द्योतक हैं। परंतु आगे चलकर इनका प्रयोग केवल परंपरा-निर्वाह के लिये होने लगा। गोसाईंजी के समकालीन कवि सूरदास और केशवदास आदि में यही बात देखी जाती है। परंतु गोसाईंजी ने परंपरा के अनुसरण से ही संतोष किया हो, ऐसी बात नहीं। उन्होंने अपने लिये अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था। उनके हृदय में प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी। उनके विशाल हृदय में जड़ और चेतन, सृष्टि के दोनों अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भावित होते हैं। उनकी दृष्टि में ग्लानि-पूरित हृदय को लेकर रामचंद्र को मनाकर लौटा लाने के लिये जानेवाले शील-निधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है। इसी लिये उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिये—

'किए जाहिं छाया जलद, सुखद बहति वर बात।'

प्रकृति की सरल सुंदरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी। पक्षियों का कलरव, जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे, उन्हें आमंत्रक प्रतीत होता था—

'बोलत जलकुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुंदर खग गन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥'

कोकिला की मधुर ध्वनि उन्हें इतनी मनोमोहक जान पड़ती थी कि इससे मुनियों का भी ध्यान भंग हो जाय।

'जड़ चेतन मय जीव जत' सबको राममय देखनेवाले गोसाईंजी का हृदय यदि प्रकृति की सुंदरता के आगे उछल न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती।

प्रकृति-सौंदर्य के लिये उनके हृदय में जो कोमल स्थान था उसी का प्रसाद है कि हिंदी में स्वीकृत विवरण मात्र दे देने की परंपरा से ऊपर उठकर कहीं कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रकृति के पूर्ण चित्रों का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र-तत्र गोसाईंजी में दिखाई देती है वह हिंदी के और किसी कवि में देखने को नहीं मिलती।

'लषनु दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठ भेरी॥'

इस डेढ़ चौपाई में गोसाईंजी ने चित्रकूट और उसके पाद पर बहनेवाली मंदाकिनी का सुंदर तथा यथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोसाईंजी की ही कला का कौशल है।

गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का जो चित्र अंकित किया वह और भी मनोरम और पूर्ण है—

'सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमँगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज विराजत सेवित सुरमुनि-भृंगनि॥
सिखर परस घनघटहिं मिलति बगपांति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह विहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल-जुत विमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग रचना विचित्र विलसति विराट अँग अंग॥'

इसी प्रकार पंपा सरोवर पर जल पीने के लिये आए हुए मृगों के झुंड का यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक ठीक आँखों के सामने खींच देता है—

'जहँ तहँ पियहिं विविध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक-भीरा॥'

मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है। उसकी बाहरी चाल-ढाल, मुद्रा, आकार आदि भी बाह्य प्रकृति के वर्णन के ही अंतर्गत समझने चाहिएँ। गोसाईंजी ने इनके चित्रण में भी अपना कौशल दिखलाया है। मृगया करते हुए रामचंद्र की मूर्ति उनके हृदय में विशेष रूप से बसी हुई थी। उस मूर्त्ति का चित्र खींचते हुए उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है—

'जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।'

और भी—

'सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि, बसै तुलसी उर आछे॥'

मृग के पीछे दौड़ते हुए, बाण छोड़ने के लिये झुकते हुए, मृग के भाग जाने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हारकर परिश्रम जनाते हुए राम का कैसा सजीव चल-चित्र आँखों के सामने आ जाता है।

बाह्य प्रकृति से अधिक गोसाईंजी की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि अंतः-प्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य-स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पड़कर मन की क्या दशा होती है,

इसको वे भली भाँति जानते थे। इसी से उनका चरित्र-चित्रण बहुत पूर्ण और दोष-रहित हुआ है। रामचरितमानस में प्रायः सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र-अंकन में उन्होंने अपनी सिद्धहस्तता दिखाई है। दूसरे के उत्कर्ष को अकारण ही न देख सकनेवाले दुर्जन किस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी मनोवृत्ति देने के लिये पहले स्वयं स्वार्थत्यागी बनकर अपने को उनका हितैषी जताकर उनके हृदय में अपने भावों को भरते हैं, इसका मंथरा के चरित्र में हमें अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। दुर्जनों की जितनी चालें होती हैं उन्हीं के दिग्दर्शन के लिये मानों सरस्वती मंथरा की जिह्वा पर बैठी थी।

जिस पात्र को जो स्वभाव देना उन्हें अभीष्ट रहा है उसे उन्होंने कोमल वय में बीज-रूप में दिखलाकर आगे बढ़ते हुए भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उसका नैसर्गिक विकास दिखाया है। रामचंद्र के जिस स्वार्थत्याग को हम बाहुबल से विजित, न्यायतः स्वायत्त और वस्तुतः हाथ में आए हुए लंका के समृद्ध राज्य को बिना हिचक विभीषण को सौंप देने में देखते हैं वह एकाकी आई हुई उमंग का परिणाम नहीं है। वह रामचंद्र का बाल्यकाल ही से क्रमपूर्वक विकास पाता हुआ स्वभाव है। उसे हम चौगान के खेल में छोटे भाइयों से जीतकर भी हार मानते हुए बालक राम में, अन्य पुत्रों की उपेक्षा कर जेठे पुत्र को ही राज्याधिकारी माननेवाली अन्याय-युक्त प्रथा पर विचार करते हुए युवा राम में, और फिर प्रसन्नता से राज्य छोड़कर वनवासी ऋषि-मुनियों की भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए वनवासी राम में देखते हैं।

रामचरितमानस में रावण का जितना चरित हमारी दृष्टि में पड़ता है उसमें आदि से अंत तक उसकी एक विशेषता हमें दृष्टिगत होती है। वह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक शक्ति का अर्जन ही गोसाईंजी राक्षसत्व का अभिप्राय

समझते थे। उसका अपार बल, विश्वविश्रुत वैभव, उसकी धर्महीन शासन-प्रणाली जिसमें ऋषि मुनियों से कर वसूल किया जाता था, उसके राज्य भर में धार्मिक अभिरुचि का अभाव, ये सब उसके भौतिकवाद के द्योतक हैं। प्रश्न उठ सकता है कि वह बड़ा तपस्वी भी तो था? किंतु उसके तप से भी उसकी भौतिकता का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी आध्यात्मिक उन्नति या मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख को भोगने के लिये वह इस शरीर से अमर हो जाय।

हनुमानजी में गोसाईंजी ने सेवक का आदर्श खड़ा किया है। वे राम के सेवक हैं। गाढ़े समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे जाती है तब हनुमानजी ही से राम का काम सधता है। समुद्र को लाँघकर सीता की खबर वही लाए। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल पर्वत को उखाड़ ले आकर उन्होंने संजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के हृदय में बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान में पड़ी तब उन्हीं ने अपना हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परंतु हनुमानजी के चरित्र में एक बात से कुछ असमंजस हो सकता है। वे सुग्रीव के सेवक थे। सुग्रीव से बढ़कर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवाधर्म का व्यतिक्रम नहीं किया? नहीं, लंका-विजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी छोड़ी ही नहीं और लोगों से कुछ दिन बाद तक जो वे अयोध्या में राम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

'दिन दसि करि रघुपति-पद-सेवा। पुनि तव चरन देखिहौं देवा॥
पुन्य पुंज तुम पवन-कुमारा। सेवहु जाइ कृपा-आगारा॥'

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्म-प्रवणता उनकी सब बातों से प्रकट होती है। राम खुशी से उनके लिये राज्य छोड़ गए हैं, कुलगुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर

बैठने की अनुमति देते हैं, कौशल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती है; परंतु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, वे इसी बात से क्षुब्ध हैं कि लोग कैकेयी के कुचक्र में उनका हाथ न देखें। वे माता से उसकी कुटिलता के लिये रुष्ट हैं। परंतु साथ ही वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते, इसी में उनके हृदय की स्वच्छता है। जब माता ही बुरी है तो पुत्र भला कैसे हो सकता है?—

'मातु मंद मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥'

उनको सिंहासन स्वीकार करने के लिये आग्रह करनेवाले लोगों से उन्होंने कहा था—

'कैकेयि-सुअन कुटिल-मति, राम-बिमुख गत-लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोह-बस, मोहि से अधम के राज॥'

भरत के संबंध में चाहे यह बात न खपती और वे प्रजा का पालन बड़े प्रेम से करते जैसा उन्होंने किया भी, परंतु उनका राज्य स्वीकार करना महत्वाकांक्षी राजकुमारों और द्वेषपूर्ण सौतों के लिये एक बुरा मार्ग खोल देता, जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय किसी न किसी कांड की आशंका बनी रहती। इसी बात को दृष्टि में रखकर उन्होंने कहा था—

'मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥'

भरत की लोक-मर्यादा की, जिसका ही दूसरा नाम धर्म है, रक्षा की इस चिंता ने ही राम को—

'भरत भूमि रह राउरि राखी।'

कहने के लिये प्रेरित किया था। उमड़ते हुए हृदय और बाष्प-गद्गद कंठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिये चित्रकूट पहुँचने पर जब राम ने उनसे अपना धर्म-संकट बतलाया तब उसी धर्म-प्रवणता ने उन्हें राज्य का भार स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। परंतु उन्होंने केवल राजा के कर्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया, उसके

सुख-वैभव को नहीं। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होंने वनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया जिससे उनके उदाहरण से धर्मोल्लंघन की आशंका दूर हो जाय।

परंतु वास्तविक मानव-जीवन इतना सरल नहीं है जितना सामान्यतः बाहर से दीखता है, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव में एक ही भावना की प्रधानता नहीं रहती। प्रायः एक से अधिक भावनाएँ उसके जीवन में स्थित होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित कराती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनाएँ एक दूसरे की विरोधिनी होकर आती हैं उस समय यदि कवि इनके चित्रण में किंचित् भी असावधानी करे तो उसका चित्रण सदोष हो जायगा। उदाहरण के लिये गोसाईंजी ने लक्ष्मण को प्रचंड प्रकृति दी है, परंतु साथ ही उनके हृदय में राम के लिये अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहाँ पर इन दोनों बातों का विरोध न हो वहाँ पर इनके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के 'वीर-विहीन मही मैं जानी' कहते ही वे तमककर कह उठते हैं—

'रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥'

परशुराम के रोष भरे वचनों को सुनकर वे कोरी कोरी सुनाने में कुछ उठा नहीं रखते—

'भृगुवर परसु देखावहु मोही। विप्र विचारि बचौं नृप-द्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥'

और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर आते देख राम के अनिष्ट की आशंका होते ही वे बिना आगा-पीछा सोचे भरत का काम तमाम करने के लिये उद्यत हो जाते हैं—

'जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेट लवा जिमि बाजू॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥'

इसी प्रकार सरल रामभक्ति का परिचय भी उनके जीवन के चाहे जिस अंश में देखने को मिलेगा। गोसाईंजी, के कौशल की परख वहाँ पर हो सकती है जहाँ पर राम के प्रति भक्ति-भावना और सहज प्रचंड प्रकृति एक दूसरी के विरुद्ध होकर आवें। यदि ऐसे स्थल पर दोनों भावों का निर्वाह हुआ तो समझना चाहिए कि वे चरित्र-चित्रण में कृतकार्य हुए हैं।

रामचंद्र को कैकेयी ने वन जाने का उपदेश दिया है। वचन-बद्ध दशरथ 'नाहीं' नहीं कर सकते हैं। ऐसे अवसर पर यह आशा करना कि लक्ष्मण क्रोध से तिलमिलाकर धनुष-बाण लेकर सबका विरोध करने के लिये उद्यत हो जायँगे, स्वाभाविक ही है। परंतु देखते हैं कि गोसाईंजी ने लक्ष्मण से इस समय ऐसा कुछ भी नहीं करवाया है। परंतु यह जितना ही सामान्य पाठक की आशा के विरुद्ध हुआ है उतना ही स-प्रयोजन भी है, क्योंकि यहाँ पर क्रोध प्रकट करना लक्ष्मण के स्वभाव के विपरीत होता। ऐसा करने से वे राम की रुचि के विरुद्ध काम करते। लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा का तब पता चला जब राम वन के लिये तैयार हो चुके थे। एक पदानुसारी भृत्य की भाँति वे भी चुपचाप वन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें क्रोध न हुआ हो, क्रोध हुआ अवश्य था, परंतु उन्होंने उसे दबा लिया। ससैन्य भरत को चित्रकूट आते हुए देखकर—

'आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करौं रिसि पाछिलि आजू॥'

कहकर उन्होंने जिस रिस का उल्लेख किया था वह यही रिस है जिसे उन्होंने उस समय प्रकट नहीं होने दिया था। गोसाईंजी ने भी इस अवसर की गंभीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दशा का उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार लंका जाने के लिये प्रस्तुत रामचंद्र ने तीन दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिये विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पसंद न आई। परंतु उन्होंने अपनी अरुचि प्रकट नहीं की। जब रामचंद्र ने समुद्र को अग्नि बाणों से सोखने का विचार करके धनुष खींचा तब लक्ष्मण की प्रसन्नता दिखलाकर गोसाईंजी ने इस अरुचि की ओर संकेत किया।

भाव-द्वंद्व का एक और उदाहरण लीजिए। कैकेयी के कहने पर रामचंद्र ने वन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ का राम-प्रेम और उनकी सत्यप्रतिज्ञता दोनों कसौटी पर हैं और उनके साथ साथ गोसाईंजी का चरित्र-चित्रण-कौशल भी। पहले तो वन जाने की आज्ञा गोसाईंजी ने दशरथ के मुँह से नहीं कहलाई है। 'तुम वन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे चाहते नहीं थे कि राम वन जायँ। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचंद्र को वन जाने से रोकने का प्रयत्न कर सकते थे। परंतु वचन-भंग करने का विचार भी उनके मन में न आया। हाँ, वे मन ही मन देवताओं को मनाते रहे कि राम स्वयं ही—

'वचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेहु।'

सत्य-प्रतिज्ञ दशरथ अवमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे, परंतु राम का विछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम-प्रेम कोई छिपी बात नहीं थी। कैकेयी को समझाती हुई विप्र-वधुओं ने कहा था—'नृप कि जिइहिं बिनु राम'। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आशंका की ओर संकेत किया था—'राउ वृद्ध, मम दुख मन माहीं'। हुआ भी यही। वचनों की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को वन जाते हुए देखते हैं, उन्हीं को हम राम के विरह में स्वर्ग जाता हुआ देखते हैं।

इस प्रकार जिस स्वभाव का व्यक्ति जिस अवस्था में जैसा काम करता, गोसाईंजी ने उसे वैसा ही करते दिखाया है। इसका केवल एक अपवाद हमें मिलता है। वह है राम का वालि को छिपकर मारना। यह शीलसागर न्यायप्रेमी राम के स्वभाव के अनुकूल नहीं हुआ है—

'मारेहु मोहिं ब्याध की नाईं।'

मरते समय वालि के किए हुए इस दोषारोपण का राम कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सके।

'अनुज-बधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी।
इनहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥'

अनुज-वधू यदि कन्या के समान है तो क्या अग्रज-वधू भी माता के समान नहीं है? सुग्रीव का तो इसके लिये रामचंद्र ने वध नहीं किया! यदि वालि वध्य भी था और वह भी राम के द्वारा तो भी कोई यह नहीं कह सकता कि जिस उपाय से राम ने वालि को मारा वह उचित था। राम को चाहिए था कि पहले वालि पर दोषारोपण करते, फिर उसे ललकारकर युद्ध में मारते जैसा महावीर-चरित में भवभूति ने कराया है। उसमें राम के वालि को अपना शत्रु समझने का भी कारण दिया गया है; क्योंकि वालि ने पहले ही राम के विरुद्ध रावण से मित्रता कर ली थी। दूसरे के साथ युद्ध में लगे हुए व्यक्ति को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी खटका नहीं है, पेड़ की आड़ से छिपकर मारना राम के चरित पर एक बड़ा भारी कलंक है जिस पर न तो हेतुवाद के चूने से कोई लीपा-पोती की जा सकती है और न मनुष्यता के रंग से ही। उद्देश्य चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो वह इतने गर्हित उपाय के अनौचित्य को दूर नहीं कर सकता; और न यह कलंक रामचंद्र को अवतार से मनुष्य की कोटि में उतार लाने के लिये ही आवश्यक है। विरहातुरता

में करुण विलाप करते हुए तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर यह कहते हुए—

'जनत्यौं जौ बन बंधु-बिछोहू। पिता-बचन मनत्यौं नहिं ओहू ॥'

उन्होंने जो हृदय की मानवोचित मधुर कमजोरी दिखाई है वही उन्हें मनुष्यता की कोटि से बिल्कुल बाहर जाने से रोकने के लिये पर्याप्त है, और नीचे उतरकर धर्माधर्म का बिल्कुल विचार ही त्याग देना मनुष्यता की कोटि से भी नीचे गिरना है।

परंतु इसका सारा दोष गोसाईंजी पर ही नहीं मढ़ा जा सकता। उनसे पहले के रामचरित के प्रायः सभी लेखकों ने रामचंद्र से यह कर्म कराया है। इससे इस घटना का महत्त्व इतिहास का सा हो जाता है, जिसके विरुद्ध चलना गोसाईंजी चाहते न थे। अन्यत्र गोसाईंजी ने इसे भक्त-वत्सलता का उदाहरण कहकर समझाने का प्रयत्न किया है, परंतु उससे कुछ भी समाधान नहीं होता। यह कहना पड़ेगा कि आपत्ति में पड़कर राम को बहुत कुछ कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान नहीं रह गया था। उन्हें एक मित्र की आवश्य-कता थी जो, चाहे जिस प्रकार हो, उनके उपकार के भार से दबकर उनका सच्चा सहायक हो जाता। सुग्रीव ने पहले मित्रता का प्रस्ताव किया, इसलिये राम ने उसी के साथ मित्रता कर ली। यदि वालि को रामचंद्र की मित्रता अभीष्ट होती और वह सुग्रीव के पहले मित्रता का प्रस्ताव करता तो संभवतः वालि के स्थान पर सुग्रीव को स्वर्ग की यात्रा करनी पड़ती।

जहाँ मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म ज्ञान ने गोसाईंजी से चरित्र-विधान में स्वाभाविकता की प्राण-प्रतिष्ठा कराई वहाँ साथ ही उसने रस की धारा बहाने में भी उनको सहायता दी, क्योंकि रसों के आधार भी भाव ही हैं। गोसाईंजी केवल भावों के शुष्क मनो-वैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को

एक दूसरे के साथ संश्लिष्टावस्था में देखा था, जैसा कि वास्तविक जगत् में देखा जाता है। रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रस-प्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा बहाने में समर्थ हुई है। प्रेम को उन्होंने कई रूपों में स्थायित्व दिया है। गुरु-विषयक रति, दांपत्य प्रेम, वात्सल्य, भगवद्विषयक रति या निर्वेद, सभी हमें रामचरितमानस में पूर्णता को पहुँचे हुए मिलते हैं। गुरु-विषयक रति का आनंद विश्वामित्र के चेलों के रूप में राम-लक्ष्मण हमें देते हैं जो गुरु से पहले जागकर उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न दिखाई देते हैं। भगवद्विषयक रति की सबसे गहरी अनुभूति उनकी विनयपत्रिका में होती है, यद्यपि उनके अन्य ग्रंथों में भी इसकी कमी नहीं है। शृंगार रस के प्रवाह में पाठकों को आप्लुत करने में गोसाईंजी ने कोई कसर नहीं रखी है, परंतु उनका शृंगार रस रीति-काल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भाँति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है। शृंगार रस यदि अश्लीलता से बहुत दूर पवित्रता की उच्च भूमि में कहीं उठा है तो वह गोसाईंजी की कविता में। जहाँ परम भक्त सूरदास भी अश्लीलता के पंक में पड़ गए हैं वहाँ गोसाईंजी ने अपनी कविता में लेश मात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

'करत बतकही अनुज सन, मन सिय-रूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरंद-छवि, करइ मधुप इव पान॥
देखन मिस मृग विहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर-छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥'

एक दूसरे के प्रति अंकुरित होते हुए इस सहज प्रेम के द्वारा किसके हृदय में शृंगार रस की पुनीत व्यंजना न होगी?

फिर चित्रकूट में लक्ष्मण की बनाई हुई पर्णशाला में—

'निज कर राजीव नयन, पल्लव दल रचित सयन,

प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की।

सिय अंग लिखैं धातु राग, सुमननि भूषन विभाग,

तिलक करनि का कहौं कला-निधान की।

माधुरी विलास हास, गावत जस तुलसिदास,

बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की।'

सचमुच सरल प्रेममय यह जोड़ी हर एक के हृदय में घर कर लेती है। इनका यशोगान करती हुई गोसाईंजी की वाणी धन्य है, जिसने वासना-विहीन शुद्ध दांपत्य प्रेम का यह परम पवित्र चित्र लोक के समक्ष रखा है। जब कोई विदेशी कहता है कि हिंदी के कवियों ने प्रेम को वासना और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिंदी-साहित्य को गंदगी से भर दिया है तब 'यह लांछन सर्वांश में सत्य नहीं है,' यह सिद्ध करने के लिये गोसाईंजी की रचनाओं की ओर संकेत करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं रहता।

गोसाईंजी के विप्रलंभ शृंगार की मृदुल कठोरता सीताहरण के समय राम के विलाप में पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है।

वात्सल्य की मनोहरता इसमें देखिए—

'ललित सुतहिं लालत सचु पाए

कौसल्या कल कनक अजिर महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए॥

*   *   *

दँतियाँ द्वै द्वै मनोहर मुख छवि अरुन अधर चित लेत चोराए।

किलकि किलकि नाचत चुटकी सुनि डरपत जननि पानि छुटकाए॥

गिरि घुटवनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूप देखाए।

बालकेलि अवलोकि मातु सब मुदित मगन आनँद न अमाए॥'

जन्मभूमि के प्रेम का भी, जो स्थायित्व को पाकर आजकल कविता में रस की श्रेणी तक पहुँच गया है, एकाध छींटा गोसाईंजी ने छिड़का है, जिसका उल्लेख हम पहले कर आए हैं।

करुण रस की धारा राम के वनवासी होने पर और लच्मण को शक्ति लगने पर फूट पड़ती है। राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यों ही पर नहीं, पशुओं पर भी पड़ी। जिस रथ पर राम को सुमंत्र कुछ दूर तक पहुँचा आया था, लौट आने पर उसमें जुते हुए घोड़ों की आकुलता देखिए—

'देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख विहँग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं, न पियहिं जल, मोचहिं लोचन वारि।'

घोड़ों की जब यह दशा थी तब पुरवासियों की और विशेषकर उनके कुटुंबी-जनों की क्या दशा हुई होगी!

जनक के 'वीर-विहीन मही मैं जानी' कहने पर लच्मण की आकृति में जो परिवर्त्तन हुआ उसमें मूर्तिमान रौद्र रस के दर्शन होते हैं—

'माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें।'

वीर और बीभत्स रस का तो मानों लंकाकांड स्रोत ही है। शिव-धनुष के भंग होने पर चारों ओर जो आतंक छा जाता है उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है—

'भरि भुवन घोर कठोर रव रबि-बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।'

रामचंद्रजी से सती और कौशल्या को एक ही साथ कई रूप दिखलाकर उन्होंने अद्भुत रस का चमत्कार दिखलाया। शिवजी की बरात के वर्णन और नारद-मोह में हास्यरस के फुहारे छूटते हैं। स्वयं राम-कथा के भीतर कृत्रिम रूप बनाकर आई हुई वास्तव में कुरूपा सूर्पणखा के राम के प्रति इस वाक्य से ओंठ मुलक ही जाते हैं—

'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँयोग विधि रचा विचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहिं निहारी ॥'

लक्ष्मण इस पर मन ही मन खूब हँसे थे। इसी कारण जब राम ने उसे उनके पास भेजा तो उनसे भी न रहा गया। बोले, उन्हीं के पास जाओ। वे राजा हैं, सब कुछ उन्हें शोभा दे सकता है—

'प्रभु समरथ कोसलपुर-राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा ॥'

इतना होने पर भी, यह कहीं नहीं भान होता कि गोसाईंजी ने प्रयत्नपूर्वक आलंबन, उद्दीपन, संचारी आदि को जुटाकर रस-परिपाक का आयोजन किया हो। प्रबंध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वतः ही रस की तलैयाँ बँध गई हैं जिनमें जी भर डुबकी लगाकर ही साहित्यिक तैराक आगे बढ़ने का नाम लेता है।

बात यह है कि वे कला को कलाबाजी की श्रेणी में गिरा देना नहीं चाहते थे। कला (आर्ट) और कलाबाजी (आर्टिफिस) में सदा से भेद होता आया है। इसी प्रकार खाली कारीगरी भी कला नहीं है। कलाकार (आर्टिस्ट) न कारीगर (आर्टिजन) है और न कलाबाज (आर्टिफिसर)। कलाबाज केवल हाथ की सफाई दिखाता है और कारीगर की सफलता उसके परिश्रम में है, जब कि कलावंत विवश होकर कला की सृष्टि का साधन बनता है, उसमें स्वतः कला का स्फुरण होता है। कलाबाज और कारीगर स्वयं अपनी सृष्टि के कर्त्ता हैं, परंतु कलावंत कला की अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। कलाबाज और कारीगर में उनकी इच्छा-शक्ति प्रेरणा करती है, कलावंत की विशेषता उसकी विवशता में है।

'कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात है, यह पाए बौराय ॥'

में कलाबाजी है। इस दोहे की विशेषता उक्ति का अनूठापन है जो सोना और धतूरा दोनों के लिये एक ही शब्द रख देने से आया है। केशवदास ने जहाँ तीन तीन अर्थ एक एक छंद में ठूँसकर भरे हैं वहाँ वे कारीगर का काम करते हैं।

'मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बंधु-बाहु-बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु सुग्रीव साँच हूँ मो सन फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसेउ समय समर संकट हौं तज्यौं लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥'

गोसाईंजी का यह पद शुद्ध कला का नमूना है। इसमें न कहीं प्रयत्न दीखता है और न कहीं बात की ब्योंत ही है। सीधे हृदय से निकली हुई बातें हैं, कहीं बनावट नहीं है। गोसाईंजी की रचना अधिकतर इसी श्रेणी की है। कलाबाजी तो उनमें नहीं के बराबर है। बहुत ढूँढ़ने से हमें एक उदाहरण मिला—

'साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जसु पावा॥'

हाँ, कारीगरी उन्होंने कहीं कहीं दिखाई है। बिहारी के समान रस के संबंध में कारीगरी करना, जैसा दिखाया जा चुका है, न तो उनकी रुचि के अनुकूल होता और न उसकी उन्हें आवश्यकता ही थी। इसके लिये उन्होंने अलंकार की ही भूमि उचित समझी। अलंकारों में भी उन्होंने हर कहीं यह बात नहीं की है। कथा-प्रबंध के बीच में ऐसा करना वे प्रत्येक दशा में अनुचित समझते थे। कथा-प्रबंध के भीतर उन्होंने अधिकतर उन्हीं अलंकारों को स्थान दिया है जो स्वतः आ गए हैं, जिनके लिये बहुत सोचने-समझने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी और जिनका अस्तित्व भी किसी प्रकार बिना सोचे-

समझे प्रकट नहीं होता। ऐसे अलंकारों में से विशेषकर परंपरित रूपक और उपमा गोसाईंजी के प्रिय अलंकार हैं। प्रबंध के बीच में एकाध जगह जो कारीगरी दिखाई है वह उतनी नहीं खटकती, क्योंकि वह भी उस अवसर के गांभीर्य को बढ़ाने में सहायक होती है। रूपक-पुष्ट इस व्यतिरेक को देखिए—

'जो छवि-सुधा-पयोनिधि होई। परम-रूप-मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
इहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल॥'

इससे जानकीजी के सौंदर्य की अनुभूति के साथ साथ कितने आदर-भाव का उदय मन में होता है। परंतु इस प्रकार की कारीगरी विशेष रूप से गोसाईंजी ने रामकथा के आरंभ होने से पहले और कथा समाप्त हो जाने के बाद की है। गीतावली और रामचरितमानस दोनों में यही बात दिखाई देती है। इन अवसरों पर गोसाईंजी ने लंबे लंबे सांग रूपक बड़ी धूमधाम से बाँधे हैं। मानस का रूपक प्रसिद्ध ही है। गोसाईंजी की कारीगरी के उदाहरण में एक और रूपक यहाँ दिया जाता है—

'मुद मंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
राम-भगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-विचार प्रचारा॥
विधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी। करम-कथा रविनंदिनि बरनी॥
हरिहर - कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥
बट बिस्वासु अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा॥
सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथ - राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग॥'

गीतावली के अंत में तो गोसाईंजी ने लंबे लंबे सांग रूपकों में नख-शिख ही वर्णन किया है। नख-शिखकार तो नायिकाओं का नख-शिख वर्णन करते हैं, परंतु गोसाईंजी ने रामचंद्र का नख-शिख वर्णन किया है। उसमें राम का मुख, उनकी बाँहें, उनके हाथ-पाँव सभी अंगों का आलंकारिक भाषा में वर्णन है।

गोसाईंजी के अलंकारों के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वे जहाँ परिश्रम-प्रभव भी हैं वहाँ भी अवसरानुकूल भावना के उत्पादन में सहायक होते हैं और, जैसा पीछे दिखला चुके हैं, रूपाकार का यथातथ्य चित्रण तो इनके अलंकारों की विशेषता है ही—

'कंबु कंठ, भुज बिसाल, उरसि तरुन तुलसि माल,
मंजुल मुकतावलि जुत जागति जिय जोहैं।
जनु कलिंद नंदिनिमनि इंद्रनील सिखर परसि,
धँसति लसति हंस सेनि संकुल अधिकोहैं॥'

इस उत्प्रेक्षा में रामचंद्रजी के शरीर की तुलना नीलम के पहाड़ से, तुलसी-माला की यमुना से और मणियों की हंसों से बहुत उत्तम बनी है, क्योंकि रूप-सादृश्य तो उसमें है ही, अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों एक समान ही हमारी मृदुल भावनाओं के आकर्षक भी हैं—

इसी प्रकार, रामचंद्रजी के मस्तक पर—

'चारु चंदन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु।'

में 'चंदन' और 'नीहार' भी एक समान ही मधुर भावनाएँ जागरित करते हैं।

कला की सौंदर्य-वृद्धि में कारीगरी के पूर्ण साहचर्य का उत्कृष्ट उदाहरण बरवा रामायण प्रस्तुत करती है। इस अपूर्व ग्रंथ में अलंकार-योजना भाव-व्यंजना के इतने अनुकूल हुई है कि अलंकारों की ओर एकाएक ध्यान नहीं जाता। किंतु भाव की गहराई तक

पहुँचने के लिये जब अलंकारों को खोजना पड़ता है तब पद पद पर उनकी बहुलता देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है।

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्चतम आदर्श में ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभि-व्यक्ति में जितनी सरलता होगी उतनी ही इस उद्देश्य में सफलता भी होगी। जो लोग अर्थ को वक्रोक्ति की भूलभुलैयों में छिपा रखने ही में अपनी कृतकार्यता समझते हैं उनकी रचनाएँ सदा के लिये भविष्य की चीजें बनी रहेंगी। वह भविष्य कभी वर्तमान में परिणत न होगा। हाँ, कला की भूमि में भी गूढ़ अभिव्यंजना-वादियों का अलग ही ताल्लुकदारी मंडल बाँध लिया जाय तो उनकी रचनाओं को सदा ही वर्तमान की वस्तु समझिए, यद्यपि उस वर्तमान का जनसाधारण के वर्तमान से कोई संबंध न होगा। परंतु गोसाईंजी ने सदैव जन-साधारण के वर्तमान को दृष्टि-पथ में रखकर लिखा है। उन्होंने जो कुछ कहा है सीधे ढँग से कहा है। अलंकारों की योजना उन्होंने अर्थ को केवल शब्द-गुंफन में छिपाने के लिये नहीं बल्कि भाव को और भी स्पष्ट अभिव्यंजना करने के लिये की है। गोसाईंजी की पंक्तियों में साधारण प्रत्यक्षार्थ को छोड़कर गूढ़ार्थ की खोज करना कला के उपर्युक्त उद्देश्य का विरोध करना है, जिसने गोसाईंजी को रामचरित लिखने की अंतः-प्रेरणा की थी।

कला के इसी उद्देश्य ने गोसाईंजी को संस्कृत का विद्वान् होने पर भी उस देववाणी की ममता छोड़कर जनवाणी का आश्रय लेने के लिये बाध्य किया था। संस्कृत, जिसमें अब तक राम-कथा संरक्षित थी, अब जन-साधारण की बोलचाल की भाषा न रहकर पंडितों के ही मंडल तक बँधी रह गई थी। इससे रामचरितमानस का आनंदपूर्ण लाभ सर्व-साधारण न उठा सकते थे। इसी से गोस्वामीजी को

भाषा में रामचरित लिखने की प्रेरणा हुई, पर पंडित लोगों में उस समय भाषा का आदर न था। भाषा कविता की वे हँसी उड़ाते थे।

'भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।'

परंतु गोसाईंजी ने उनकी हँसी की कोई परवा नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि वही वस्तु मानास्पद है जो उपयोगी भी हो। जो किसी के काम न आवे उसका मूल्य ही क्या?

'का भाषा का संसकिरत प्रेम चाहियतु साँच।
काम जो आवइ कामरी का लै करै कमाँच॥'

अतएव उन्होंने भाषा ही में कविता की और रामचरित को देश भर में घर घर पहुँचाने का उपक्रम किया।

उस समय काव्य की प्रचलित भाषा व्रजभाषा थी। वैष्णवों ने इसी को अपनाया था। सूरदासजी ने सूरसागर के पद इसी भाषा में रचे थे। गोस्वामीजी ने पहले इसी में फुटकर रचना करना आरंभ किया। उन्होंने गीतावली, विनयपत्रिका और कवितावली का अधिक अंश व्रजभाषा में ही लिखा है, परंतु व्रजभाषा फुटकर छंदों के ही लिये उपयुक्त थी, उसमें अभी तक कोई प्रबंध-काव्य नहीं लिखे गए थे। अतएव जब वे रामचरित को प्रबंध रूप में लिखने बैठे तब उन्हें दूसरी भाषा ढूँढ़ने की आवश्यकता हुई। जब हम देखते हैं कि आगे चलकर जिन जिन लोगों ने व्रजभाषा में प्रबंध-काव्य लिखने का प्रयत्न किया वे सब असफल रहे तब हमें गोसाईंजी के व्रजभाषा में प्रबंध काव्य न लिखने के निर्णय का औचित्य जान पड़ता है। व्रजविलास आदि प्रबंध-काव्य कभी जनता में सर्वप्रिय न हुए। अतएव अपने प्रबंध-काव्य के लिये गोसाईंजी ने अवधी को ग्रहण किया जिसे प्रेम-मार्गी कहानी-लेखक सूफी कवि कहानियों के लिये भली भाँति माँज चुके थे। अवधी की ओर गोसाईंजी की रुचि के और भी कारण थे। वह स्वयं उनकी बोली थी और उस प्रांत की भी बोली थी

जहाँ उनके इष्ट का जन्म हुआ था। गोसाईंजी के पहले चार-पाँच आख्यानक काव्य अवधी में लिखे जा चुके थे। कोई तीस वर्ष पहले जायसी ने पद्मावत की कहानी लिखकर अपनी प्रेमपुष्ट वार्ता का चमत्कार दिखलाया था। गोसाईंजी ने उन्हीं का अनुसरण किया। जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवै रामायण आदि प्रबंधों की रचना भी उन्होंने अवधी ही में की।

इस प्रकार गोसाईंजी ने दो भाषाओं में कविता की। इन दोनों भाषाओं को संस्कृत की परिपक्व चाशनी की पाग देकर उन्होंने उन्हें अद्भुत मिठास प्रदान की है। इन दोनों भाषाओं पर उनकी रचनाओं से इतना अधिकार दिखाई देता है कि जितना स्वयं सूरदासजी का व्रजभाषा पर और जायसी का अवधी पर न था। इन दोनों लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने व्याकरण का गला दबाकर शब्दों के ऊपर खूब अत्याचार किया है। परंतु गोसाईंजी ने व्रज भाषा और अवधी दोनों के व्याकरण के नियमों का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। भाषा-शैथिल्य तो उनकी रचनाओं में कहीं मिलता ही नहीं है। एक भी शब्द उनमें ऐसा नहीं मिलता जो भरती का हो। प्रत्येक शब्द पूर्ण भाव-व्यंजक होकर अपने अस्तित्व की सप्रयोजनता को प्रकट करता है।

अपने समय की प्रचलित काव्य-भाषाओं ही पर नहीं, उस समय तक प्रचलित काव्य-शैलियों पर भी उनका प्रभुत्व लक्षित होता है। विषय के अनुकूल उनकी शैली भी बदलती जाती है। गीतावली और विनयपत्रिका में सूरदास की गीत-पद्धति का अनुसरण किया गया है। उनमें भारतीय संगीत की भिन्न भिन्न राग-रागिनियाँ गृहीत की गई हैं। कवितावली में भाटों की परंपरा के अनुसार फुटकर सवैए और कवित्त कहे गए हैं। जब उनके समय के कवियों को साधारण राजाओं के भाट बनने में लज्जा न आई तब वे अपने सर्वस्व जगदाधिप श्रीराम की उमरदराजी कहने में क्यों लजाते? विरुदा-

वली और वीरोत्साहवर्धिनी दोनों प्रणालियों को, जिनके लिये सवैए, घनाक्षरी और छप्पय विशेषकर उपयुक्त ठहरते हैं, कवितावली में आश्रय मिला है। रामचरितमानस में जायसी के अनुकरण पर प्रबंध-काव्य के अनुकूल दोहे चौपाइयों का अनुक्रम रखा गया है। चौपाई और बरवै अवधी के खास अपने छंद हैं। बरवै में भी गोसाईंजी ने रामचरित का वर्णन किया है, परंतु एक स्वतंत्र ग्रंथ में, रामचरितमानस के अंतर्गत नहीं। रामचरितमानस में बीच बीच में त्रिभंगी, हरिगीतिका, त्रोटक, सोरठा आदि लंबे छोटे छंद रखे गए हैं। परंतु यह वहीं पर किया गया है जहाँ पर कथा-प्रबंध के प्रवाह में कुछ थमाव आवश्यक था; जैसे किसी देवता की प्रार्थना में अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य अवसर पर, किंतु और जगह नहीं। अब रह जाती है नीति-काव्य के रचयिताओं की विदग्ध-वचनावली-सिद्ध प्रणाली जिसके साथ दोहों का कुछ अटूट संबंध सा हो गया है। उस पर गोसाईंजी ने स्वतंत्र रचना भी की है और उसके लिये यत्र-तत्र प्रबंध के बीच में भी जगह निकाल ली है। दोहावली और सतसई ऐसे ही पद्यों के संग्रह हैं, जो कुछ तो मानस आदि ग्रंथों से संगृहीत हैं और शेष स्वतंत्र रचनाएँ हैं। क्लिष्ट-कल्पना-जन्य कूट-कविता-शैली को तो हम भूल ही गए थे। परंतु गोसाईंजी उसे भी न भूले। सतसई में उन्होंने ऐसी जटिल रचनाएँ की हैं जिनका अर्थ करने के लिये बड़ी खींचातानी करनी पड़ती है और तब भी अनिश्चय बना ही रहता है। ऐसी रचनाएँ प्रशंसनीय नहीं कही जा सकतीं, चाहे वे गोसाईंजी की ही रची क्यों न हों। हाँ, गोसाईंजी की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने इस प्रकार की रचनाओं के लिये ऐसे विषय को चुना और इस प्रकार से इस प्रणाली का उपयोग किया कि अर्थ के अनिश्चय में भी अनर्थ की संभावना नहीं रहती। प्रत्येक दोहे में स्पष्ट ही किसी की वंदना

की गई है। यह भी पाठक जानता है कि राम अथवा राम से संबंध रखनेवाले किसी व्यक्ति की वंदना होगी। कूट से वही नाम निकालने के लिये पाठक को अपना मस्तिष्क लगाना होता है। अब यदि गोसाईंजी का अभिप्राय राम की वंदना से था और पाठक ने भरत की वंदना समझी या गोसाईंजी ने एक प्रकार से किसी कूट का अर्थ राम-वंदना से लिया और पाठक ने दूसरे प्रकार से तो उसमें क्या बिगाड़ हो गया! बैजनाथजी और बिहारीलालजी चौबे की टीकाएँ इस बात की साक्षी हैं।

संक्षेप में तल्लीनता, प्रबंध-पटुता, रचना-चातुर्य, भाषा-सौष्ठव, रस-परिपाक, अलंकार-योजना आदि चाहे जिस दृष्टि से देखें गोसाईंजी में हम सब दशाओं में कला का अन्यतम उत्कर्ष पाते हैं। जहाँ कहीं हम उन्हें देखते हैं, वहाँ हम उन्हें सर्वोपरि देखते हैं। पहले से दूसरा स्थान भी उनका कहीं नहीं दिखाई देता और काव्य-साहित्य का ऐसा कौन क्षेत्र है जहाँ हम उन्हें नहीं देखते? वास्तव में हिंदी भाषा का संपूर्ण वैभव से पूर्ण शक्ति का साक्षात्कार गोसाईंजी में ही होता है। परंतु हिंदी के होकर वे केवल हिंदुस्तान के ही नहीं रहे, बल्कि अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण समस्त संसार के हो रहे हैं। एक न माने जानेवाले पूर्व और पश्चिम भी उनकी प्रशंसा करने के लिये एक हो रहे हैं। देश और काल का अतिक्रमण करनेवाली उनकी प्रतिभा के मूल में उनकी आत्म-विस्मृतिकर तल्लीनता ही है; इसी लिये उनकी कृतियों में कला को वह उत्कर्ष प्राप्त हुआ है जिसे देखकर 'हरिऔध' जी की सार्थक वाणी में अपना स्वर मिलाते हुए, हमें भी यही कहते बनता है कि—

'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

---

(१२) व्यवहार-धर्म

गोसाईंजी आर्य संस्कृति के परम भक्त थे। उसकी रक्षा उनके जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। रामचरित के द्वारा उन्होंने उसका आदर्श स्वरूप खड़ा कर दिया है जिसके सहारे हिंदू आज भी आर्य बना हुआ है। मनुष्य मनुष्य का ऐसा कोई संबंध नहीं जिसका हमारे लिये गोसाईंजी ने आदर्श न स्थापित कर दिया हो। व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य—गोसाईंजी की लेखनी ने सबका सामंजस्य-विधान हिंदू संस्कृति के अनुरूप ही किया है। पाश्चात्य सभ्यता में व्यक्ति का परिवार से, परिवार का समाज से और समाज का राज्य से संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। परंतु हमारी संस्कृति के अनुसार इन भिन्न भिन्न मंडलों का ध्येय यह नहीं है। इसके विपरीत हमारे यहाँ प्रत्येक बड़ा मंडल अपने से छोटे मंडल का क्रमशः विकसित रूप है। व्यक्ति परिवार में, परिवार समाज में और समाज राज्य में विकसित हुआ है। हमारी सभ्यता की विशेषता उत्सर्ग है। व्यक्ति को परिवार के लिये, परिवार को समाज के लिये और समाज को राज्य के लिये उत्सर्ग करना पड़ता है। उत्सर्ग ही में मनुष्य की मनुष्यता है। पशु उत्सर्ग नहीं कर सकता। इसी से पशु में समाज और राज्य की स्थापना नहीं हुई। रामचरितमानस में इस उत्सर्ग से उत्कर्ष-प्राप्त संस्कृति का सौंदर्य खूब प्रस्फुटित हुआ है। दशरथ के परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सारे परिवार की सुख-शांति के लिये अपने अपने सुखों का त्याग करने के लिये प्रस्तुत है और इस सारे परिवार का त्याग मिलकर समाज और राज्य का कल्याण करता है। कैकेयी की दुर्मति इसी त्याग के सौंदर्य को दिखलाने का कारण होकर स्वयं भी धन्य हो गई है। इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति समाज

के सामने कोई न कोई आदर्श उपस्थित करता है। दशरथ सत्य-प्रतिज्ञता और पुत्र-प्रेम के, राम पितृ-भक्ति के, भरत भ्रातृ-भक्ति के, लक्ष्मण अपूर्व सहन-शक्ति के, कौशल्या प्रेममयी माता का और सीता पति-परायणा पत्नी का आदर्श हैं। कैकेयी भी जगत् के सामने एक आदर्श रखती है, वह है पश्चात्ताप का आदर्श। यदि किसी व्यक्ति से अपराध हो जाय तो वह भी कैकेयी के ऐसा पश्चात्ताप करके अपने जीवन को पावन कर सकता है। पिता-पुत्र का, भाई-भाई का, पति-पत्नी का जो मधुर और आदर्श संबंध इस परिवार में देखने को मिलता है, उसमें उत्सर्ग का—त्याग का—सौंदर्य खिल उठा है।

यह उत्सर्ग भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता का द्योतक है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र में लय करते हुए अंत में उसे विश्वात्मा में लय करने का पाठ सीखता है। भारतीय समाज-व्यवस्था के आधार-स्तंभ वर्णव्यवस्था-धर्म और आश्रम-धर्म हमारी संस्कृति के इसी आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं। इस व्यक्ति-स्वातंत्र्य के युग में लोगों को वर्ण-व्यवस्था में अन्याय और अत्याचार दिखाई देता है। वे समझते हैं कि इससे वैयक्तिक स्वातंत्र्य के लिये स्थान नहीं रह जाता, समाज में असाम्य का प्रचार होता है और प्रकृति के अनुकूल स्वाभाविक विकास का मार्ग रुँध जाता है। ऐसे लोग भारतीय संस्कृति को भौतिकवाद की दृष्टि से देखते हैं, परंतु भारतीय संस्कृति का विकास भौतिकता की लीक पर नहीं हुआ है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य उसका लक्ष्य है, परंतु वह व्यक्ति स्वातंत्र्य भौतिकवाद के व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भाँति व्यक्ति को संसार में बाँधने-वाला नहीं, बल्कि उससे सर्वथा स्वतंत्र कर देनेवाला है। गोसाईंजी ने वर्ण-व्यवस्था को इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हुए देखा है, इसी लिये वे उसके कट्टर पक्षपाती हुए हैं। वर्ण-व्यवस्था का वास्त-विक उद्देश्य समझने के लिये उसे आश्रम-धर्म के संग में देखना

चाहिए। उससे अलग उसकी व्यवस्था ही नहीं की गई है। इस दृष्टि से देखने से पता चलेगा कि भारतीय संस्कृति में भौतिकता आध्यात्मिकता के विरोध में नहीं वल्कि उसकी सहकारिता में आई है। गृहस्थाश्रम, जिसमें भौतिकता का पूर्ण किंतु संयत विकास दिखाया गया है, आध्यात्मिक विकास के शिखर पर पहुँचानेवाले आश्रम-धर्म की सीढ़ी का एक डंडा मात्र है। भौतिक जीवन के पथ-बाहुल्य-जनित अनिश्चय तथा छीना-झपटी में पड़कर मनुष्य अपने पारमार्थिक उद्देश्य को न भूल जाय, इसलिये सामाजिक जीवन में उसका क्या भाग होगा, यह उसके लिये पहले ही से निश्चित कर दिया गया है। यही वर्ण-व्यवस्था है जिसमें गुणानुसार कर्मों का विभाग किया गया है। परंतु मनुष्य के गुण परिस्थिति के परिणाम होते हैं और परिस्थितियाँ जन्म से ही अपना प्रभाव डालना आरंभ कर देती हैं। इससे जन्म से ही वर्ण भी माने गए। अपवाद प्रत्येक नियम के होते हैं, परंतु वे नियम के विरोध में खड़े नहीं हो सकते।

चारों वर्णों में जिस क्रम से भौतिकता का अंश कम और आध्यात्मिकता का अधिक है उसी क्रम से उनको महत्त्व भी अधिक दिया गया है। इसी क्रम से निम्न स्थानवालों का अपने से ऊपरवाले वर्णों के प्रति आदर प्रदर्शन करना कर्तव्य है। ब्राह्मणों को भौतिक सुख का त्याग कर ज्ञान और विद्या की रक्षा तथा वृद्धि करनी पड़ती है। इसी लिये वर्ण-विभाग में उनका सर्वोच्च स्थान है। गोसाईंजी ने जटायु से राम के द्वारा इस संबंध में जो यह उपदेश दिलाया है—

'मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर-सेव।
मोहिं समेत विरंचि सिव वस ताके सब देव॥'

वह इसी लिये है।

क्षात्र धर्म यद्यपि स्थूल बाहु-बल पर अवलंबित है, परंतु उस स्थूल बल का प्रदर्शन बिना आत्म-बल के नहीं हो सकता, क्योंकि

उसके साथ साथ प्राण-हानि की आशंका बनी रहती है, बल्कि न्यायपूर्वक रणभूमि में प्राणोत्सर्ग करना ही क्षत्रिय अपना धर्म समझता है। इसलिये ब्राह्मणों के अनंतर क्षत्रियों का पद आता है। वाणिज्य और सेवा-धर्म में इतने त्याग की आवश्यकता नहीं पड़ती। कम आध्यात्मिकतावाले वर्णों को अधिक आध्यात्मिकतावाले वर्णों के प्रति आदर-बुद्धि रखने का नियम निरर्थक सामाजिक नियम नहीं है। हमारी जातिगत आध्यात्मिकता की रक्षा के लिये यह सर्वथा आवश्यक था। बिना उसके कम आध्यात्मिकतावाले वर्णों के लिये आश्रम-धर्म बेकाम हो जाता, वानप्रस्थ और संन्यस्ताश्रम से वे कोई लाभ न उठा सकते। आध्यात्मिकता के लिये इसी आदर-बुद्धि का प्रसाद है कि अधिकाधिक भौतिकता-मय जीवन बिताते हुए भी वे सर्वथा भौतिकता में फँस नहीं जाते और अंत में वानप्रस्थ के द्वारा संन्यस्ताश्रम में वे ब्राह्मणों के साथ समानता प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से गोसाईंजी का यह मत—

'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥'

अपने वास्तविक रूप में प्रकट होगा और सर्वथा उचित जान पड़ेगा।

ब्राह्मण पूज्य और रक्षणीय इसलिये हैं कि वे हमारी संस्कृति के भांडार हैं। उनकी रक्षा से संस्कृति की रक्षा है और उनकी पूजा से हमारी संस्कृति का आदर है।

आध्यात्मिक दृष्टि से किसी वर्ण को औरों से ऊँचा मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि औरों के साथ समाज में ऐसा व्यवहार किया जाय कि उन्हें पद पद पर यह विभेद खटकता रहे। वास्तव में आध्यात्मिकता के प्रति आदर-दृष्टि रखनेवाले किसी भी वर्ण से नीचे नहीं हो सकते। यदि आध्यात्मिकता के श्रेणी-विभाग में ऊपरवाले वर्ण अपने से निम्न वर्णों को घृणा की दृष्टि से देखें अथवा उन्हें अस्पृश्य समझें तो उनकी आध्यात्मिकता का मूल्य ही क्या

क्या सकता है ? खटकनेवाला भेद इस देश में था ही नहीं। यदि यह बात होती तो रोम के प्लीबियन विद्रोह की भाँति हमारे यहाँ भी शूद्र-विद्रोह होते। आजकल शूद्रों का समाज में जो स्थान है उससे शूद्र-विद्रोह प्रचंड रूप धारण किए हुए हैं। उसकी प्रचंडता खटकती इसलिये नहीं कि उसने रूप ही दूसरा पकड़ा है। वह है धर्म-परिवर्तन, जो विद्रोह से भी भयंकर है। विद्रोह एक अंग की रक्षा का प्रयत्न करता है, परिवर्तन अंग-विच्छेद की ओर झुकता है। गोसाईंजी ने जिस समाज की सृष्टि की है उसके आदर्श पर चलने से इस स्थिति का परिहार हो सकता है, क्योंकि उसमें शूद्रों के ऊपर आजकल की भाँति अन्याय नहीं होता था। गोसाईंजी ने शूद्रों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार दिया है। 'जनमत भयौं शूद्र तनु पाई,' इस प्रकार अपने शूद्र-जन्म की कथा कहते हुए काक भुशुंडि गरुड़ से कहते हैं—'एक बार हर-मंदिर जपत रहेउँ सिवनाम'।

उस समाज में शूद्र ब्राह्मणों से मंत्र-दीक्षा भी पा सकते थे। काक भुशुंडि कहते हैं—

'विप्र एक वैदिक सिव पूजा। करै सदा तेहि काज न दूजा॥
संभु मंत्र मोहिं द्विज वर दीन्हा। सुभ उपदेस विविध विधि कीन्हा॥'

काक भुशुंडि के साथ एक, और दूसरे विद्यार्थियों के साथ दूसरा व्यवहार न होता था, क्योंकि भुशुंडि को—

'विप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं'।

छूत के भाव का उस समाज में सर्वथा अभाव है। गुह जब राम के आने का समाचार पाकर उनके दर्शनार्थ आता है तो राम उसे नीच जाति का समझ दूर ही से नहीं मिलते हैं, पास बिठला-कर उससे कुशल-प्रश्न करते हैं—

'पूछी कुसल निकट बैठाई।'

गुह का आतिथ्य राम ने इसलिये नहीं अस्वीकार किया कि वह

नीच जाति का था परंतु इसलिये कि ऐसा करने से पिता की वनवास की आज्ञा का भंग होता। ऊँच और नीच के बीच का सबसे मृदुल उदाहरण चित्रकूट में वसिष्ठ-निषाद-मिलन है—

'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड-प्रनामू।
राम-सखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥'

यदि केवट विनय का अवतार है तो वसिष्ठ स्नेह के। स्वयं गोसाईंजी ने अयोध्या के एक चुहड़े (मेहतर) को प्रेम-विह्वल होकर आलिंगन किया था।

हाँ, गोसाईंजी को अवश्य ही वर्ण-व्यवस्था का अतिक्रमण असह्य था। वे यह नहीं देख सकते थे कि शूद्र ('बैठि बरासन कहहिं पुराना') व्यास गद्दी पर बैठकर कथा बाँचा करें या जनेऊ देते फिरें। ये उनके कर्म-विभाग के बाहर की बातें हैं। तुलसीदासजी का आदर्श समाज वह है जिसमें लोग प्रेम-बंधन में बँधकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए अपने अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहें। गोसाईंजी का विश्वास है कि ऐसे समाज में अवश्य सुख-शांति का साम्राज्य होगा। उसमें कभी रोग, शोक और भय नहीं व्याप सकेंगे, क्योंकि ये मानसिक अवस्थाएँ मात्र हैं जो केवल उलटी जीवन-पद्धति के फल हैं—

'वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥'

यहाँ पर एक और जटिल समस्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। गोसाईंजी पर शूद्रों के साथ साथ स्त्रियों पर अन्याय करने का अपराध लगाया जाता है। परंतु जिस व्यक्ति को स्त्री के ही मुख से भगवत्प्रेम की दीक्षा मिली हो वह भला कैसे स्त्री-वर्ग के ऊपर अन्याय कर सकता था! 'हम तो चाखा प्रेमरस, पतिनी के उपदेस', यह गोसाईंजी ने स्वयं कहा है। गोसाईंजी ने उन पर अन्याय किया भी नहीं है। 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी'

कहते समय उनका अभिप्राय यह नहीं था कि उन्हें बिल्कुल बाँध ही दिया जाय, प्रत्युत समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह कहकर उन्होंने स्त्रियों के महत्त्व को स्वीकार किया है। एक ही स्त्री माता, पत्नी, वधू आदि कई रूपों में, कई प्रेम-सूत्रों से, परिवार को एक में बाँध रखती है। अतएव उसका पारिवारिक विचारों को छोड़कर इधर उधर की बातों में बहक जाना समाज के बंधनों को ढीला करना है। स्वच्छंदता केवल स्त्रियों के ही लिये बुरी नहीं है, पुरुषों के लिये भी बुरी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छंद हो जाय तो स्वतंत्रता कहीं नाम को भी न मिले। विशेष अवस्थाओं में जब कि शुद्ध भाव से आंतरिक प्रेरणा हो रही हो तब सब बाधक बंधनों को तोड़ डालने का अधिकार वे स्त्रियों का भी मानते हैं। जो 'राम वैदेही' के विमुख हों उन्हें 'त्यागिय कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही' यह उपदेश उन्होंने मीराबाई को दिया था। इस प्रकार उन्होंने स्त्री को पुरुष से किसी भी दशा में नीचा स्थान नहीं दिया है। उनकी राक्षसियाँ भी धर्म-परायणा, नीति-निपुणा और भक्त हैं। मंदोदरी नीति-निपुणा विदुषी, त्रिजटा भक्ति-परायणा और सुलोचना धर्मप्राणा पतिव्रता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनके सबसे आदर्श पुरुष-पात्र राम ने बालि को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी खटका नहीं था, छिपकर मारा और एक शब्द भी पश्चात्ताप का कभी उनके मुँह से नहीं निकला। किंतु कैकेयी राम को वनवास दिलाने के कारण जन्म भर अनुताप में घुलती रही, यद्यपि उसके पास अपने काम को संगत ठहराने का कारण था। अभिषेक के लिये वह समय चुना गया था जब भरत राजधानी में नहीं थे। सात दिन तक अभिषेक की तैयारियाँ होती रहीं, परंतु कैकेयी के कानों तक खबर न गई। गोसाईंजी पर स्त्रियों पर अन्याय करने का दोषारोपण करना स्वयं गोसाईंजी के साथ अन्याय करना है। वास्तव

में स्त्री के ऊपर ऐसा अन्याय जो अप्रतिकार्य हो उनसे देखते नहीं बनता था। राम के द्वारा सीता का अकारण त्याग उन्हें नहीं रुचा। पहले उन्होंने उसके परिहार का प्रयत्न किया। अध्यात्म-रामायण के अनुकरण पर गीतावली में उन्होंने राम से अपने पिता की आयु भोगवाई जिससे सीता के त्याग के लिये शील का अनुरोध भी एक कारण हुआ। अपने पिता की आयु भोगते हुए भी सीता का सहवास राम के लिये अनुचित होता। परंतु इससे भी गोसाईं-जी को शांति न मिली। अपने रामचरितमानस में, जिसमें उन्होंने लोक-धर्म का चित्र खींचा है, राम को सीता पर यह अन्याय करने से बचाने के लिये लंका-विजय के अनंतर अयोध्या में राम के अभिषेक पर ही उन्होंने रामायण की कथा समाप्त कर डाली है।

स्त्री की जो कहीं कहीं उन्होंने निंदा की है, वह वास्तव में स्त्री की न होकर स्त्री पुरुष के कामुक संबंध की है। दोनों वर्गों के परस्पर संपर्क में यह एक ऐसी निर्बलता का स्थल है जिसके संबंध में सतर्क रहने का उपदेश देना गोसाईंजी अपना कर्तव्य समझते थे। तुलसीदासजी जिस वेद-विहित व्यापक धर्म के प्रतिपादक हैं उसमें पत्नी का महत्त्व पति से कम नहीं है। पति यदि स्वामी है तो पत्नी भी स्वामिनी है। स्वामी और दासी में सेव्य सेविका का संबंध भले ही हो जाय किंतु वे परस्पर प्रेमी नहीं हो सकते। प्रेम उस चंचल भाव का भी नाम नहीं है जो मुँह से—

'अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः।'

कहनेवाले अर्जुन को जहाँ कहीं पहुँचे वहीं जैसे बन पड़े ब्याह पर ब्याह करने को बाध्य करता था। बहुविवाह से समाज को जो हानि हो सकती है वह कैकेयी के सामने दशरथ की परवशता तथा उस अन्याय में प्रकट है जो दशरथ को राम पर करना पड़ा। जैसे पत्नी के लिये पतिव्रता होना धर्म है वैसे ही पति के लिये भी

एकपत्निव्रत रहना परम धर्म है। कुलस्त्रियों का प्रदूषित होना पुरुषों के प्रदूषित होने न होने पर निर्भर है। स्त्रियों के साथ अन्याय करना ही अधर्म है। उसके बाद कुल, जाति, देश वा 'धर्मो सनातनः' का जो कुछ न हो जाय वही थोड़ा है। राम और सीता के रूप में स्त्री पुरुष की समता का आदर्श सामने रखकर तुलसीदासजी ने समाज के लिये कल्याण का राज-पथ खोल दिया है।

इस समता में आजकल की वह स्वार्थमय संकीर्णता नहीं है जो अपने लिये अलग अधिकार ढूँढ़ती है, प्रत्युत वह विशालहृदयता है जो एक दूसरे के लिये अपने आपको उत्सर्ग कर देने के लिये प्रस्तुत रहती है और यही उत्सर्ग भारतीय संस्कृति की विशेपता है।

राजनीति भी समाज-शास्त्र की एक शाखा है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था के सफल होने के लिये अनुकूल राजा और शासन-प्रणाली अपेक्षित हैं। राजा की सबसे बड़ी शक्ति प्रजा की अनुरक्ति है। शासन-प्रणाली और राजा का यही प्रयोजन है कि प्रजा को सुख शांति मिले। जिस शासन-प्रणाली और जिस राजा से यह न हो वह निष्प्रयोजन ही नहीं, निंदनीय भी है—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक-अधिकारी॥'

अब तक कई शासन-प्रणालियों की व्यावहारिक प्रयोग से जाँच हो चुकी है परंतु आधुनिक प्रणालियों में से कोई ऐसी नहीं देखी जाती जो शासितों को सर्वथा संतुष्ट कर सकी हो। प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली से, जो बीसवीं शताब्दी की विशेपता है, जगत् का असंतोष दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। मुस्लिम-सभ्यता के काल में 'डिमाक्रेसी' का अर्थ ही हुल्लड़शाही था। एकतंत्र शासन में भी प्रजा सुख से रह सकती है और प्रजातंत्र में भी प्रजा पर घोर अन्याय हो सकता है, यह बात इतिहास से भी सिद्ध है। प्रतीच्य ज्ञान के उन्मेपक यवन दार्शनिक स्वतंत्र चिंतन से इस परिणाम पर पहुँचे थे

कि प्रजा की सुख-शांति के लिये ऐसा राजा चाहिए जिसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो। उनकी खोज का लक्ष्य 'फिलासफर किंग' था। किंतु जो सुकरात इस दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण राज-पद के ठीक योग्य था उसी को यवनों की हुल्लड़शाही ने विष-पान कराकर मार डाला। गोसाईंजी भी इस बात को जानते थे कि राजा में तितिक्षा और दार्शनिक मनोवृत्ति आवश्यक गुण हैं। जो इन गुणों से विहीन होते हैं वे राजशक्ति का दुरुपयोग करने लगते हैं—

'सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥'

कुछ तो हमारे यहाँ ब्रह्मचर्याश्रम के नियम ही ऐसे हैं कि उनके अनुसार शिक्षा-दीक्षा से राजकुमारों की मनोवृत्ति कुछ दार्शनिक और उत्सर्गमयी हो जाती है। उसके अनंतर भी राजाओं को विरक्त ऋषि-मुनियों की अनुमति के अनुसार कार्य करना पड़ता था। डाक्टर भगवानदास अपनी स्वराज्य-योजना में व्यवस्थापकों में विरक्त संन्यासियों को रखकर प्रजासत्तात्मक प्रणाली में इसी दार्शनिक तथा उत्सर्ग-मूलक तत्त्व को ले आने का प्रयत्न कर रहे हैं। रामचरित-मानस में अयोध्या में हम गुरु वसिष्ठ की अनुमति के अनुकूल राज्य-शासन का संचालन देखते हैं। साथ साथ अमात्य और सचिवों की मंत्रणा की तो सहायता लेनी ही पड़ती है। ये मंत्रिगण भी निधड़क बोलनेवाले होने चाहिएँ, क्योंकि—

'सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरम तनु तीन कर, होहि बेग ही नास॥'

राम में हमें ठीक एक दार्शनिक तितिक्षु राजा के दर्शन होते हैं जिसकी तितिक्षा कर्तव्य की विरोधिनी नहीं है। इसी लिये उनके राज्य में राजनीति की परमावधि देखने को मिलती है—

'राम-राज सुनियत राजनीति की अवधि
नाम राम! रावरे तौ चाम की चलाइहौं।'

इसी लिये—

'दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥'

आजकल की तरह राजनीति में व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन में भेद नहीं था। राजा का जीवन प्रजा के सामने एक खुली पुस्तक के समान होता था। राजा के आदर्श जीवन का ही अनुसरण प्रजा भी अपने जीवन में करती थी। राजा यदि कोई अनुचित कार्य करे तो प्रजा को उसे टोकने का अधिकार होना चाहिए, राजा को इस बात का ध्यान रहता था। रामचंद्र ने भरी सभा में 'गुरु द्विज पुरवासी सब' से कहा था—

'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजेहु भय बिसराई।'

राजा जब धर्म पर दृढ़ था तभी प्रजा भी धर्म-निरत थी।

राजा की तितिक्षा के माने यह नहीं हैं कि वह निर्बल हो। निर्बल की तितिक्षा का मूल्य ही क्या हो सकता है? जो प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता वह त्याग क्या करेगा? राजा में बाहुबल और आत्मबल दोनों का सामंजस्य होना चाहिए। इसी प्रकार शासन-प्रणाली में भी यह चाहिए। बिना शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के आध्यात्मिक उन्नति कष्ट-साध्य ही नहीं, असंभव भी है। राम में हम आध्यात्मिक बल के साथ साथ पराक्रम भी देखते हैं। जिस रघुनंदन की मुखांबुज-श्री—

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः
तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः॥'

उसी को हम महापराक्रमी रावण का दमन करते हुए देखते हैं। शासन-प्रणाली में जहाँ प्रजा की सुख-शांति का ध्यान रखा जाता है, वहाँ इस हित-संपादन के लिये राजा के पास सैन्य-शक्ति के साथ साथ

अर्थ-शक्ति भी चाहिए। यह अर्थ-शक्ति कर के ही द्वारा आ सकती है। परंतु इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि कर देना प्रजा को खटके नहीं। इस विषय में सूर्य का उदाहरण गोसाईंजी राजाओं के सम्मुख रखते हैं। सूर्य किस समय और कैसे पानी को पृथ्वी से खींच लेता है, यह कोई नहीं देख पाता, किंतु उसका वर्षा ऋतु में चराचर सृष्टि के लाभ के लिये बरसना सब देखते हैं।

'बरखत हरखत लोग सब, करखत लखत न कोइ।
तुलसी भूपति भानु सम, प्रजा-भाग-बस होइ॥'

राजा को इस रीति से कर उगाहना चाहिए कि प्रजा को उसका देना जान न पड़े—यह आजकल का 'इंडाइरेक्ट टैक्सेशन' है—और फिर कर-रूप में आए हुए इस धन को राजा अपने विलास में नहीं किंतु प्रजा की ही भलाई के लिये प्रकट रूप में व्यय करे। निस्संदेह ऐसी शासन-प्रणाली में प्रजा नितांत संतुष्ट रहेगी, जैसा कि हम राम-राज्य में देखते हैं। क्योंकि—

'सुप्रभु प्रजाहित लेहिं कर सामादिक अनुमान।'

भोज्य पदार्थों का ग्रहण तो मुख करता है, किंतु पुष्ट होते हैं शरीर के सब अंग। राज्य-रूप शरीर का मुँह राजा है। उसे भी प्रजा-रूप विभिन्न अंगों के पोषण के लिये ही कर-रूप भोजन लेना चाहिए—

'मुखिया मुख सों चाहिए खान-पान सों एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक॥'

इन सब बातों का जहाँ पालन हो वह राम-राज्य है, जिसमें गोसाईंजी ने एकतंत्र के साथ प्रजातंत्र का समन्वय किया है और सुराज्य के साथ स्वराज्य का। इसी से वह हिंदू-जाति के स्मृति-पटल पर अमिट रूप से अंकित हो गया है।

---

(१३) तत्त्व-साधन

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक प्रवृत्ति, जिसका दर्शन हम व्यवहार-धर्म के अंतर्गत कर चुके हैं, इस भावना पर स्थित है कि सारी सृष्टि का उद्भव एक ही उद्गम से है, एक ही के अनेक रूप यह दृश्यमान सृष्टि है और अनेकता के मूल में इसी एकता की अनुभूति हमारे अस्तित्व का साफल्य है। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति" यह वेदों ने उद्गीरित किया। इसी के सुर में अपना आलाप मिलाकर उपनिषदों ने तादात्म्य की अनुभूति का सवेग प्रवाह बहाया। इसी आलाप का स्वर-समाहार भगवद्गीता में हुआ। गोसाईंजी की कृति में भी इसकी गूँज सुनाई देती है। इनकी काव्यसरिता की—

'तरल तरंग-सुछंद वर हरत द्वैत-तरु-मूल।
वैदिक लौकिक विधि विमल, लसत विसद घर कूल॥'

यही कारण था कि सब जड़ चेतन सृष्टि को राममय मानकर प्रणाम करना उन्होंने आवश्यक समझा—

'जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदौं सबके पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि॥'

कण कण में, परमाणु परमाणु में वे राम की विद्यमानता का अनुभव करते थे। अपने लिये रहने का उपयुक्त स्थान पूछने पर वाल्मीकि ने राम से कहा था—

'पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥'

यह विश्व-विस्तृत सृष्टि उस सूक्ष्म का विराट् रूप है, अव्यक्त का व्यक्त शरीर है—

'विस्वरूप रघुवंसमनि, करहु वचन-विस्वासु ।
लोक कल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु ॥
पद पाताल सीस अजधामा । अपर लोक अँग अँग विस्रामा ॥
भृकुटि विलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा । निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
स्रवन दिसा दस वेद बखानी । मारुत स्वास निगम निज बानी ॥
अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ॥
आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ॥
रोमराजि अष्टादस भारा । अस्थि सैल सरिता नस-जारा ॥
उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु का बहु कलपना ॥
अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास चर-अचर-मय, रूप राम भगवान ॥'

इसी दृष्टि से उसी सत् की प्रातिभासिक सत्ता होने के कारण संसार सत्य है, अन्यथा वह सर्वथा असत्य है। राम से अलग उसकी सत्ता ही नहीं है।

राम के बाहर उसकी अलग सत्ता समझना अज्ञान है, माया है, सीपी में चाँदी का भास होना है और सूर्य की किरणों में पानी का भ्रम है—

'रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु रवि वारि ।'

एक मात्र सत्तत्त्व राम है, वही सत्य है। उसके अतिरिक्त जो कुछ दिखाई देता है, वह सब माया है, झूठ है—

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥'

राम की ही सत्यता से अज्ञान के कारण इस संसार की अलग सत्ता सी जान पड़ती है—

'जासु सत्यता तें जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥'

माया दो दृष्टि-कोणों से देखी जा सकती है। एक से वह विद्या कहाती है और दूसरे से अविद्या। एक ओर वह राम की शक्ति है जिससे वह सृष्टि की रचना करती है; दूसरी ओर वह प्रचंड शक्ति है जो जीव को भ्रम में डाले दवाए रहती है—

'एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
एक दुष्ट अतिसय बल रूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥'

विनयपत्रिका में गोसाईंजी ने माया का यह द्वैध स्वरूप और भी अच्छी तरह स्पष्ट किया है—

'केसव कहि न जाइ का कहिए?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु विनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति-दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रविकर निकर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥'

एक दृष्टि से देखने से माया सत्य है, दूसरी दृष्टि से देखने से झूठ है। राम के साथ माया सत्य है, जीव या सृष्टि के साथ झूठ है। परंतु उसे न सच कह सकते हैं, न झूठ, क्योंकि जब वह सच है तब अपने बल पर नहीं (नहिं निज बल ताके), राम के बल पर (प्रभु प्रेरित)। साथ ही, वह झूठ भी नहीं, क्योंकि उसे राम का बल है और आपेक्षिक दृष्टि में वह अपना बल जीवों पर दिखाती है। सच-झूठ दोनों एक साथ कहना ठीक न होगा क्योंकि यह प्रत्यक्ष विरोध प्रदर्शित करता है। इसलिये शास्त्रों में इसे 'सदसद्विलक्षण'— सत्य और झूठ दोनों से विलक्षण—कहा है। ऊपर के पद के अंतिम दो चरणों में यही बात गोसाईंजी ने भी कही है।

गोसाईंजी के मायावाद और जगद्गुरु शंकराचार्यजी के माया-वाद में भेद दिखाई देता है। शंकराचार्यजी माया का अस्तित्व ही नहीं मानते, परंतु गोसाईंजी राम के बल पर उसका अस्तित्व मानते हैं। शंकर के लिये रचना भ्रम मात्र है, तुलसी के लिये वह मूल तथ्य है। राम के अस्तित्व में उसका अस्तित्व है। वह शक्ति बीजरूप से राम में विद्यमान है और वही सृष्टि का मूल कारण है। बिना उसके ब्रह्म पर एकोऽहं बहु स्याम् का आरोप नहीं हो सकता। एक बार मिलान हो जाने पर फिर आगे के लिये सृष्टि का द्वार वही खुला रखती है। ब्रह्म में माया भी समाहित है, यद्यपि ब्रह्म से अलग उसकी सत्ता नहीं। उनकी कल्पना में सीता राम की शक्ति-रूप माया है। जगत् को राममय कहने से उनका तात्पर्य सीताराममय कहने से है। राम केवल—

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥'

ही नहीं हैं, मायाधिपति भी हैं।

'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन-निकाय-पति माया धनी।'

एकाध स्थल पर उन्होंने स्पष्ट भी कहा है—

'सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

राम से अलग माया की सत्ता मानना ही सब बंधनों का कारण है। मनुष्य को बाँधनेवाला कर्म-सूत्र इसी से निकलता है। मनुष्य के जितने उलटे आचरण हैं सबका मूल कारण भिन्नता में अभिन्नता न देख सकना है। संसार में अपनी इस मूल-एकता का ज्ञान न रहने से ही प्रेम का अभाव होकर वैमनस्य का प्रकांड तांडव दिखाई दे रहा है। इसी से सब मोह मद मत्सर क्रोध का कारण यही अज्ञान है। यही लोगों को हिंसा की ओर प्रेरित करता है—

'जाहि मान सो बैर है, मान बैर नहिं होय।
तुलसी जो लगि पाइहै, सो निरदय नहिं होय॥'

माया और ब्रह्म की भिन्नता में जब अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है तब यह बंधन स्वतः टूट जाता है। अज्ञान की अवस्था से ज्ञान की अवस्था में आना ही मोक्ष का मार्ग है। परंतु कहने में यह जितना सरल लगता है साधन में उतना ही कठिन है।

हमारे यहाँ मोक्ष तक पहुँचने के तीन मार्ग माने गए हैं, कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग। समन्वित विचार-धारा के अनुसार, जिसके गोसाईंजी प्रतिनिधि हैं, ये तीनों मार्ग अलग अलग नहीं बल्कि एक ही मोक्ष मार्ग के अलग अलग मिलान हैं। साधारणतः भक्ति से उनका अभिप्राय कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों योगों के समन्वित रूप से है। लक्ष्मण को भक्ति-योग समझाते हुए वे अपना अभिमत संक्षेप में यों देते हैं—

'धर्म ते विरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना॥'

धर्म से यहाँ अभिप्राय व्यवहार-धर्म या कर्म-मार्ग से है और जोग से भक्ति-योग से। आगे जो उन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या की है उससे यह प्रकट है—

'प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत स्रुति रीती॥'

यह कर्म-योग है जो गोसाईंजी के अनुसार मोक्ष-मार्ग की प्राथमिक आवश्यकता है। कर्म से उन्होंने केवल यज्ञ-याग का अर्थ नहीं लिया है। वह नित्य प्रति के व्यवहार-क्षेत्र के वृहद् यज्ञ से संबंध रखता है। रामचरितमानस के रामादि पात्रों ने अपने कर्त्तव्य-मय जीवन से कर्मयोग का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया है। बिना पहले सामाजिक मर्यादा का पालन किए आभ्यंतरिक संयमों का निर्वाह नहीं हो सकता। आंतरिक संयम के लिये पहले वाह्य नियमन आवश्यक है। बिना इसके सब भक्ति और ज्ञान व्यर्थ जायगा—

'यहि कर फल पुनि विषय-विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
स्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥'

यह भक्ति-योग है। भक्ति से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानैं दृढ़ सेवा॥

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥'

मोक्ष तो ज्ञान ही से प्राप्त होगी परंतु ज्ञान भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जाना चाहिए। सीधे विना भक्ति के सहकार के ज्ञान की प्राप्ति असंभव चाहे न हो, पर दुष्कर अवश्य है—'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म-सरूपा'। ज्ञान अव्यय, निर्विकल्प, चिन्मय, मन और बुद्धि से अगम्य निर्गुण रूप का होता है और भक्त भगवान् के सगुण स्वरूप को सम्मुख रखता है। विना हृदय के सहकार के इंद्रियों को उनके विषयों से अलग कर ज्ञान-मार्ग पर चलना खड्ग की धार पर चलना है—

'ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं वारा॥'

ज्ञान-मार्ग में सब रागात्मिका वृत्तियों का विरोध अपेक्षित है परंतु भक्ति-मार्ग में उनके लिये उन्मुक्त प्रवाह की व्यवस्था है, यद्यपि एक ही दिशा में फिर भक्ति के विना ज्ञान का कुछ भरोसा नहीं। क्योंकि यदि वह रसना तक का ज्ञान हुआ तो वह भी और स्थूल रसों की तरह जिह्वा का एक रस ही होगा, जो दंभ की उत्पत्ति का कारण होगा। वाचक ज्ञानी से अज्ञानी लाख दर्जे अच्छा है क्योंकि वह समाज को विशृंखल तो नहीं करता। वैसे तो रावण भी ज्ञानी था। जब उसके बंधु-पुत्रादि कुटुंबी जन रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हो गए—

'तब रावण विविध विधि, समुझाई सब नारि।

नस्वर रूप जगत सब, देखहु हृदय विचारि॥'

परंतु उसका ज्ञान दूसरों को ही उपदेश देने के लिये था, उससे उसने स्वयं कोई लाभ न उठाया। सीता के रूप पर मोहित होकर

वह उसे हर लाया था। एक बार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी यह न समझ रखना चाहिए कि आगे के लिये अज्ञान के बंधन सर्वथा टूट ही गए हैं। जब तक कर्मों का कुछ भी फल भोगने को शेष है तब तक भविष्य के लिये बंधन-सूत्रों की उत्पत्ति की भावना बनी ही रहती है, यह गोसाईंजी का मत था—

'प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कौन अस ज्ञानी॥'

लोमश ऋषि यद्यपि परम ज्ञानी थे फिर भी उनका मोह दूर न हो पाया था। उनके बार बार निर्गुण ज्ञान का उपदेश देने पर भी जब भुशुंडि ने निर्गुण मत की महत्ता स्वीकार न की और वह हठपूर्वक सगुण मत का प्रतिपादन करता रहा तब वे क्रोध से उबल पड़े और उन्होंने उसे कौआ हो जाने का शाप दे दिया। लोमश भी मोह से परिच्छिन्न थे, फिर चाहे वह ज्ञान का ही मोह क्यों न हो। भक्ति शुष्क ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस बात पर गोसाईंजी ने बार बार जोर दिया है। अपने इष्ट देव के सुंदर गुणों पर जब भक्त की दृष्टि ठहर जाती है तब अपनी वृत्तियों को अन्य विषयों से लपेटने में उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, परंतु ज्ञानी को स्वयं अपने बल पर खड़ा होना होता है। राम के मुँह से गोसाईंजी ने भक्तों को जो नीचे लिखा आश्वासन दिलाया है वह इसी आधार पर—

'भजहिं न मोहिं तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिनकै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥'

शिशु की प्रत्येक क्रिया को माता देखती रहती है, और उसे प्रत्येक विघ्न से बचाती रहती है। परंतु बालक जब बड़ा हो जाता है और उसे स्वयं बोध होने लगता है तब माता उसके विषय में इतनी चिंता नहीं रखती।

'मेरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

ग्यान, विराग, जोग बिग्याना। ये सब पुरुष सुनहु हरि जाना ॥
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारिवर्ग जानहिं सब कोऊ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥'

कहकर भी गोसाईंजी ने भक्ति के इसी महत्त्व को दूसरे प्रकार से व्यक्त किया है। भक्ति को स्त्री इसलिये कहा है कि उसमें स्त्री की भाँति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना होता है और ज्ञान में आत्मानुभूति की आवश्यकता होती है। आत्म-समर्पण में मृदुलता और आत्मानुभूति में कठोरता है।

परंतु यह महत्त्व पारमार्थिक नहीं है, केवल लोकोपयोगिता को दृष्टि में रखने से है। जैसे व्यवहार-धर्म में गोसाईंजी पारमार्थिक तत्त्व को नहीं भूलते वैसे ही तत्त्व-साधन में भी वे लोक की ओर दृष्टि रखकर चलते हैं। 'अंतरजामी' से 'बाहरजामी' को, राम से नाम को, ज्ञान से भक्ति को बड़ा कहने में यही रहस्य है और 'राम ते अधिक राम कर दासा' कहने में भी यही बात है परंतु वास्तव में बाहरजामी इसी लिये बड़ा है कि वह 'अंतरजामी' तक पहुँचाने का साधन है। नाम का यही महत्त्व है कि वह राम का ज्ञान कराता है, भक्ति का इसी में साफल्य है कि उससे ज्ञानोत्पादन होता है, राम के मार्ग में राम का दास हमारा आदर्श रहता है। वह बाल्यावस्था किस काम की जिसके बाद प्रौढ़ावस्था ही न आवे? वह भक्ति भी किस काम की जो ज्ञान में परिणत न हो? मोक्ष-मार्ग में भक्ति-स्त्री के ज्ञान-पुरुष में परिवर्तित हुए बिना काम नहीं चल सकता। जब तक यह अवस्था नहीं आती तब तक मनुष्य काल के पाश से बच नहीं सकता। जब आत्म-विस्मृति के द्वारा आत्मानुभूति हो जाती है तभी काल के बंधन कट सकते हैं—

'कबहुँक दरसन संत के पारस मनी अतीत।
नारी पलट सो नर भया लेत प्रसादी सीत ॥

तुलसी रघुवर सेवतहिं, मिटिगो कालोकाल।
नारी पलट सो नर भया, ऐसो दीन दयाल ॥'

यदि ऐसा न हो तो 'सेव्य-सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ऐसी भक्ति सेव्य-सेवक भाव हो सकती है परंतु उससे कोई तर नहीं सकता। बिल्कुल ही निरवलंबता का भाव न इहलोक के लिये हितकर है और न परलोक के लिये। "जनहिं मोर बल निज बल ताही" में 'निज बल' और 'मोर बल' एक ही वस्तु के द्योतक हैं। यदि भक्त इस भावना की ओर अग्रसर नहीं होता तो समझना चाहिए कि उसकी भक्ति, भक्ति नहीं बेगार है। 'पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं' से स्पष्ट है कि ज्ञान भक्ति ही का फल है। फलागम के पीछे भी इसका साहचर्य्य गोसाईंजी उसकी दृढ़ अवस्थिति के लिये आवश्यक समझते हैं।

गोसाईंजी की रचनाओं में पद पद पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि उन्होंने भक्ति-योग से केवल प्रपत्ति-मार्ग अथवा शरणागति का अर्थ नहीं माना है। इस भाव के साथ साथ उनकी भक्ति में ज्ञान भी मिश्रित है, बल्कि यों कहना चाहिए कि उनकी भक्ति ज्ञान-गर्भित है। भक्ति-योग पर एक पद में उन्होंने कहा है—

'रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥'

यह रेत में से शक्कर को अलग करना है। इस कला में निपुणता प्राप्त करने के लिये चींटी बनना आवश्यक है।

'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैत वियोगी।'

आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकार के भक्तों का वर्णन करते हुए गोसाईंजी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि भगवान् को ज्ञानी भक्त सबसे अधिक प्रिय लगता है—

'चहूँ चतुर कहँ नाम पियारा। ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा॥'
भक्ति सगुण से निर्गुण तक पहुँचाने का साधन है। परमात्मा की जो माया हमें बंधन में डाले हुए है वही हमारा उस बंधन से छुटकारा भी करेगी। भगवान् यद्यपि लीला के लिये भी निर्गुण से सगुण होते हैं तथापि उस लीला में निष्ठुरता नहीं। उसमें हमारे त्राण का साधन विद्यमान है। 'नाम' और 'रूप' उपाधियाँ परमात्मा मानों हमारे प्रति दयालु होकर ही धारण करता है। ये ही उपाधियाँ हमें सगुण से निर्गुण तक ले जाती हैं। ये दुभाषियों का काम करती हैं। वे सगुण भाषा में हमें निर्गुण ज्ञान का उपदेश देकर हमारे हृदय में उसकी परम अनुभूति कराती है—

'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर सुसाखी॥'
आँखों में सतत राम का रूप और जिह्वा पर निरंतर राम का नाम रखने से स्वतः हृदय में गिरा-गोतीत ब्रह्म की अनुभूति होती है—

'हिय निरगुन नयननि सगुन रसना नाम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥'

परंतु तादात्म्य की अनुभूति के लिये यह आवश्यक है कि सगुण की यह सेवा निष्काम हो। जब तक मनुष्य पूर्ण रूप से इच्छारहित न हो जाय तब तक उसे मुक्ति नहीं मिल सकती—

'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम॥'

भक्ति के फल की ओर थोड़ी सी भी दृष्टि जाने से उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। अर्थार्थी भक्त को गोसाईंजी ने बहुत नीचा स्थान दिया है। गोसाईंजी के हृदय में भक्ति की अनन्यता का प्रतीक चातक है—

'एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम कहँ चातक तुलसीदास॥'

किंतु लोग समझते हैं कि चातक की भी कुछ माँग है, कवि-परंपरा में वह स्वाती की बूँद की कामना से 'पी पी' पुकारता फिरता है। ऐसा चातक निष्काम भक्त की श्रेणी तक नहीं पहुँच सकता—

'मांगत डोलत है नहीं, तजि घर अनत न जात।
तुलसी चातक भगत की, उपमा देत लजात॥'

यह बात ठीक है कि विषय के प्रति जो अनन्यता विषयी की होती है वही भक्त की अपने इष्ट के प्रति होनी चाहिए—

'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥'

परंतु उस प्रेम के साथ वासना-तृप्ति का लक्ष्य न होना चाहिए।

गोसाईंजी भी जिस चातक के प्रेम पर मोहित हैं उसे स्वाति-बूँद की चाह नहीं। केवल प्रेम की प्यास है जो बढ़ती ही जाती है, बुझती नहीं—

'तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम-पियास।
पियत स्वाति-जल जान जग, जाँचत बारह मास॥
चातक तुलसी के मते स्वातिहु पिए न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़त भली घटे घटेगी आनि॥'

यदि मुक्ति की भी कामना हो गई तो भक्ति का उद्देश्य नष्ट हो गया। भक्त की वह भावना होनी चाहिए जो भक्ति को अपना उद्देश्य अपने आप समझती है—

'जिनके मन मगन भए हैं रस सगुन। तिनके लेखे कवन मुकति अगुन॥'

ऐसा होने से मुक्ति अपने आप पीछे-पीछे लगी चलेगी—

'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छत आवइ बरियाईं॥'

लोक-कल्याण की दृष्टि से सगुणोपासना के क्षेत्र में भक्ति का चरम उत्कर्ष अवतार-वाद की भावना में मिलता है। अवतार नाम और रूप की परम मनोहर और सुग्राह्य विभूति है, मुक्ति और

आसक्ति का समन्वय है। राम के शील, उनकी शक्ति और उनके सौंदर्य में असत् के विरुद्ध सत् के वलों को प्रेरित करने की भगवान् की पूर्ण होती हुई उस प्रतिज्ञा के दर्शन होते हैं जिसकी ओर गोसाईंजी ने गीता का अनुसरण करते हुए नीचे लिखी पंक्तियों में संकेत किया है।

'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।

× × × × ×

तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'

अवतार की भावना के ही कारण मनुष्य के कार्यों में ईश्वर का हाथ दिखाई देता है, सत्प्रवृत्तियों के लिये दृढ़ आधार मिल जाता है, मनुष्यता को विकसित होकर ईश्वरीय विभूति में परिणत हो जाने का मार्ग खुल जाता है और दुःखवाद के अंधकार में पड़े हुए संसार पर मंगलाशा की ज्योति फैल जाती है जिससे उत्साहित होकर भक्त इहलोक तथा परलोक दोनों को एक ही युद्धक्षेत्र में जय कर सकता है।

---

(१४) व्यक्तित्व

गोसाईंजी की आकृति कैसी थी, उनका रूप-रंग कैसा था, नाटे थे या लंबे, हृष्ट-पुष्ट थे या दुर्बल, इसका हमें निश्चयपूर्वक कुछ भी ज्ञान नहीं है। "दयो सुकुल जन्म शरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को" के आधार पर उनके शरीर की सुंदर और सुडौल रचना हमने मानी है। परंतु यह भी हो सकता है कि गोसाईंजी अपने शरीर को सुंदर इसलिये समझते रहे हों कि वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों फलों का साधन था। उनके जो चित्र छपते हैं उनसे भी हमारा ज्ञान नहीं बढ़ सकता, क्योंकि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अब तक उनके दो चित्र मिले हैं। एक गंगाराम ज्योतिषीजी के उत्तराधिकारियों के यहाँ प्रह्लादघाट (काशी) पर है और दूसरा स्वर्गीय पंडा विंध्येश्वरीप्रसादजी के घर पर जो अस्सी (काशी) पर गोसाईंजी के अखाड़े के पास है। ये दोनों चित्र एक दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलते, यद्यपि दोनों वृद्धावस्था के ही जान पड़ते हैं। एक में वे बहुत दुर्बल दिखलाए गए हैं और दूसरे में बहुत स्थूल। आकृति में भी बहुत भेद है। अस्सीवाला चित्र डा० ग्रिअर्सन के प्रयत्न से पहले पहल खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित रामायण में छपा था। इस चित्र का कोई भी पुरावृत्त नहीं ज्ञात है। कुछ लोग इस चित्र को सुंदर मानते हैं, किस दृष्टि से, सो नहीं कहा जा सकता। यदि भारी भरकम शरीर होना सुंदरता का एक मात्र लक्षण हो तो यह चित्र भी गोसाईंजी को सुंदर प्रमाणित कर सकता है।

प्रह्लादघाटवाले चित्र के लिये कहा जाता है कि यह वही चित्र है जिसे जहाँगीर ने उतरवाया था। प्रह्लादघाट पर के तुलसीदासजी

के अखाड़े के उत्साही अधिकारी पंडित रणछोड़ व्यास ने इसी चित्र के आधार पर गोसाईंजी की एक संगमरमर की मूर्त्ति बनवाकर स्थापित की है। इस चित्र के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि यह उस समय का है जब गोसाईंजी बाहु-पीड़ा से ग्रस्त थे। इसी लिये इसमें एक हाथ पतला दिखाया गया है। नागरी-प्रचारिणी सभा से गोसाईंजी का जो चित्र प्रकाशित हुआ है वह इससे मिलता-जुलता है। परंतु उसमें दोनों हाथ पतले बनाए गए हैं। संभवतः प्रतिलिपिकारों ने एक हाथ को दूसरे से पतला रखना मूल चित्रकार की असावधानी समझा हो। आजकल विद्वानों का मत इसी को असली स्वीकार करने की ओर है। जब तक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलते तब तक हमारी भी प्रवृत्ति इसी को प्रामाणिक मानने की होती है। तप और वार्धक्य से चीण होने पर भी गोसाईंजी इस चित्र में सुंदर दिखाई देते हैं।

गोसाईंजी की बाहरी रूपाकृति के विषय में चाहे हमारी धारणा अनिश्चय में फँसी हो परंतु उनके वास्तविक व्यक्तित्व के विषय में अनिश्चय का कोई स्थान नहीं। उनका हृदय एक खुली पुस्तक है। उनकी रचनाओं के द्वारा हम उनके हृदय में प्रवेश कर उनके व्यक्तित्व के उस रहस्यमय आकर्षण को समझ सकते हैं जिसके द्वारा आज हिंदुओं की ही नहीं मनुष्य-मात्र की श्रद्धा और भक्ति उनकी ओर खिंची जा रही है।

वे प्रकृति के सरल थे और शील के आगार थे। उनका शील, जिसकी आभा से रामचरितमानस भी अभिमंडित है, बाहरी शिष्टाचार मात्र नहीं है। वह उनके अस्तित्व का अभिन्नांश है, उनके हृदय का विभव है। राम के गुणों ने उनके हृदय में बैठकर सब दुर्गुणों और सांसारिक वक्रता के लिये अर्गला लगा दी थी। वैर और विरोध से वे दूर रहते थे।

'राम के गुलामन की रीति, प्रीति सूधी सब,
सब सों सनेह, सबही को सनमानिए ।'

प्राणिमात्र से उनके हृदय का लगाव था और सभी के हित-साधन को वे लक्ष्य में रखते थे। यही कारण है कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े के घर में भी उनकी वाणी की गूँज सुनाई देती है। बाइबिल को छोड़कर रामचरितमानस के समान सर्वप्रिय संसार में कदाचित् ही कोई दूसरा ग्रंथ हो। वह भी इसी लिये कि उसे गोसाईं-जी ने सबके लिये सदा के लिये लिखा है। 'राममय' होने के कारण सबको वे सम दृष्टि से देखते थे। इसी सम दृष्टि में उनकी सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भी रहस्य छिपा हुआ है। जब वे किसी अवस्था में भेद ही नहीं समझते थे तब किसी के उन्हें बुरा कहने पर वे बुरा भी कैसे मान सकते थे? उनका जीवनोद्देश्य ही था—

'सील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय, मुख राम।
तुलसी रहिए यहि रहनि, संत जनन को काम ॥'

इसका उन्होंने जीवन में भली भाँति निर्वाह किया। वे उस अवस्था से बहुत ऊँचे उठ गए थे, जहाँ भले और बुरे का भेद लोगों को चंचल कर देता है। कोई उनकी प्रशंसा करे अथवा निंदा इससे उन्हें कोई मतलब नहीं रहता था। उन्होंने अपने निंदकों को उद्देश्य करके स्वयं कहा है—

'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब, काहू की जात बिगार न सोऊ ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचे सो कहै कछु कोऊ।
माँगिके खैबो, मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ ॥

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।

साधु जानै महासाधु खल जानै महाखल,
वानी झूठी साँची कोटि उठत हबूब है॥
चहत न काहु सों, कहत न काहु को कछु
सबकी सहत उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥'

साधु-संतों को भला बुरा कहने से निश्चय ही लोग अपनी ही वास्तविकता का परिचय देते हैं—

'साधु कहै महासाधु खल कहै महाखल'

उससे संतों का कुछ बन या बिगड़ नहीं सकता। इसी से किसी निंदक की उन्होंने बुराई नहीं चाही। उनकी यही सहिष्णुता भिन्न भिन्न विरोधी धर्म-संप्रदायों के सामंजस्य-विधान में प्रतिफलित हुई। उनके ग्रंथों से यह बात स्पष्ट ही है कि वे स्मार्त वैष्णव थे। इसके साथ मध्याह्नव्यापिनी रामनवमी को उनके रामचरितमानस के प्रारंभ करने से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है, क्योंकि स्मार्त वैष्णव ही मध्याह्न में रामनवमी मानते हैं। साधारण मत से उदय-काल में रामनवमी मानी जाती है। स्वयं वैष्णव होते हुए भी उन्होंने शैवों की निंदा नहीं की, वल्कि शिव और विष्णु दोनों की समानता का प्रतिपादन किया। वैष्णवों और शैवों का विरोध उन्हें अच्छा नहीं लगा। इस वैर को मिटाने के लिये उन्होंने शिव को राम का अनन्य भक्त और राम को शिव का उपासक बनाया। उनके राम ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि—'शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव-द्रोही मम दास' दोनों नरक के भागी हैं। जो एक का विरोधी हो वह दूसरे का भक्त नहीं हो सकता। राम-भक्त का यह लक्षण है कि वह शिव का भी सेवक हो।

"बिनु छल विश्वनाथ-पद-नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू।"

एक कथानक तो उनको जैनों और हिंदुओं के बीच भी सामंजस्य स्थापित करता सा दिखाता है। हिंदुओं के तो किसी भी देवता की उपासना को अथवा किसी भी संप्रदाय को उन्होंने अपने सामंजस्य-विधान के बाहर नहीं छोड़ा है। विनयपत्रिका में उन्होंने गणेश, सूर्य आदि प्रत्येक देवता की वंदना की है। यदि किसी मत से उनकी सामंजस्य-बुद्धि का विरोध हुआ तो वह वाम-मार्ग से। वह भी इसलिये कि वाम-मार्ग उन्हें समाज की मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ दिखाई दिया—

'तजि श्रुति पंथ वाम पथ चरहीं।
बंचक बिरचि भेष जग धरहीं ॥'

× × × ×

'कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा।'
'जीवत शव समान से प्राणी ॥'

इसी प्रकार भूत-प्रेत-पूजा को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनके मत में भूत-प्रेत-पूजकों को बहुत नीच गति मिलती है। बात यह है कि जो व्यक्ति जिसकी उपासना करता है उसी तक उसकी गति होती है। इसी लिये गीता में कहा है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'

अपने से ऊपरवालों की पूजा करने में तो कोई अर्थ है, उससे किसी सीमा तक उच्चरण ही होगा, अधःपात नहीं। परंतु जो लोग मनुष्यों से भी पतित भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं उनका अधःपात निश्चित है। इसी लिये भरत कौशल्या के पास अपनी निर्दोषिता दिखलाने के लिये सौगंध खाते हुए कहते हैं—

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत गन घोर।
तिन्ह कै गति मोहिं देउ बिधि, जो जननी मत मोर ॥'

अंध-विश्वासों को पाखंड की वृद्धि में सहायक उपादान समझकर वे उनकी निंदा करते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ब्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइचे जाय॥

हाँ, यदि अंध-विश्वास सात्त्विक वृत्ति के परिपोषक हों तो वे उन्हें हानिकर नहीं समझते। सात्त्विक वृत्ति के साथ विश्वास के संयोग से वे सब कुछ संभव समझते हैं। इसी लिये उन्होंने वणिक् कमलभव को यह उपदेश दिया था कि यदि किसी ऊँचे पेड़ के नीचे त्रिशूल खड़ा कर पेड़ पर से उस पर कूद जाओ तो अवश्य तुम्हें परमात्मा के दर्शन होंगे। यदि कोई कहे कि राम नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल उग आया तो वे उसे सही स्वीकार करने में आनाकानी न करेंगे—'राम प्रताप सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जाम्यो।' परंतु राम की करामात छोड़कर जब जहाँगीर ने उनसे अपनी करामात दिखाने को कहा तो उन्होंने साफ कह दिया कि यह बात झूठ है कि मुझमें कोई करामात है। राम नाम के सिवाय मैं और कोई चमत्कार नहीं जानता—

'कही झूठ बात, एक राम पहिचानिए'—(प्रियादास)

क्योंकि जीवित मनुष्य के साथ अंध-विश्वास के संयोग से पाखंड की वृद्धि होती है जिसके विरुद्ध गोसाईंजी जन्म भर लड़ते रहे। अवतार-वाद में भी, जो गोसाईंजी के सिद्धांतों का प्रधान आधार-स्तंभ है, मनुष्य की ही पूजा होती है सही, किंतु वह ईश्वरत्व के लिये किसी व्यक्ति की ओर से दंभ-पूर्ण दावा नहीं है। प्रत्युत मरण पर्यंत न्यायानुकूल व्यतीत किए गए जीवन के महत्त्व की समाज की ओर से श्रद्धामय स्वीकृति है। वह एक पुरस्कार है जो व्यक्ति को नहीं, उसकी स्मृति को ही मिल सकता है। उसका उपभोग करने के लिये व्यक्ति नहीं रहता, केवल उसका व्यक्तित्व रह जाता है। भक्ति के आवेश

में इस सिद्धांत को भूलकर कहीं कहीं गोसाईंजी राम के मुँह से ईश्वरत्व का दावा करा गए हैं। भक्ति का यह आवेश केवल इसलिये क्षम्य कहा जा सकता है कि यह प्राकृत जन का गुण-गान नहीं है, इतिहास नहीं है; वरन् युगों पीछे उन्हें समाज के द्वारा ईश्वरत्व मिल जाने के बाद एक भक्त की भावना है। इसी बात से राम एक दंभी राजा और तुलसीदास उनके चाटुकार कहे जाने से बच जाते हैं।

अपने प्रभु को जहाँ गोसाईंजी अधिक से भी अधिक महत्त्व देते हैं, वहाँ अपने लिये वे छोटे से छोटा स्थान ढूँढ़ते हैं।

विनय के तो वे मानों अवतार ही थे। दंभ उन्हें छू भी नहीं गया था। किस प्रकार छोटी अवस्था में वे घर घर टुकड़े माँगते फिरते थे, यह कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ—

'बारे तें ललात बिललात द्वारे द्वारे दीन
जानत हौं चारि फल चारिही चनक को।'

अपने प्रभु के सामने बार बार अपनी दीनता का वर्णन करते वे थकते ही नहीं थे। उत्कट कवि होते हुए भी वे अपनी गिनती कवियों में नहीं करते थे—

'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥'

नम्रता के कारण वे अपने आपको सबसे निकम्मा समझते थे। बुरे लोगों में अपनी गिनती वे सबसे पहले करते हैं—

'बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धँधरक धोरी॥'

परंतु क्या कभी वास्तविक हीन व्यक्ति के हृदय में अपनी लघुता का इतना गहन और विशद अनुभव हो सकता है और जिसे यह अनुभव हो जाय वह क्या कभी लघु रह सकता है? इस 'लघुत्व' के सामने सारी महत्ता वार देने योग्य है।

परंतु यह सहिष्णुता, क्षमाशीलता और विनय व्यक्तिगत साधना-क्षेत्र के अंतर्गत है। जहाँ समाज की मर्यादा के भंग होने का प्रश्न आता वहीं गोसाईंजी उसे त्याग देते थे। वहाँ फिर वे 'शठे शाठ्य' की नीति का अवलंबन उचित समझते थे। 'कबहुँ सुधाइहु ते बड़ दोसू' कहकर उन्होंने इसी व्यावहारिक चातुर्य्य का अनुमोदन किया है। व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में पाखंड फैलाकर जो लोग सामाजिक व्यतिक्रम का उपक्रम करते हैं उन्हें वे क्षमा नहीं कर सके। अलख को लखनेवालों के लिये उनके पास उपयुक्त संबोधन 'नीच' ही था—

'तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच।'

उनकी विनय और लघुता की भावना ऐसी भी नहीं थी कि उनको पौरुषेय गुणों से दूर रखकर आत्म-सम्मान-रहित बिल्कुल चाटुकार बना देती। संसार की कोई भी शक्ति उनको उस अवस्था में न डाल सकती जिसमें मनुष्य कहने लगता है—'हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती'। इसके विपरीत 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' का उनको गहरा अनुभव हुआ था। भारत और भारतीय संस्कृति का, रामायण को वे जिसका संकलित संस्करण समझते थे, उन्हें औचित्यपूर्ण गर्व था। इसी संस्कृति ने भारत को अग्रणी बनाया था—

'रामायण सिख अनुहरत जग भौ भारत रीति।'

विलासितामय विदेशी संस्कृति के अनुकरण में स्पर्धा दिखाते हुए प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य की अवहेलना करनेवाले भारतीय राजाओं के ऊपर उन्हें बड़ा तरस आता था। इसी लिये उन्हें वे जंगलियों और गँवारों में गिनते थे—

'गोंड गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥'

फारसी के हिंदू लेखकों का तो कहना ही क्या है! वे तो समर में काम आए हुए हिंदू वीरों को जहन्नुम में पहुँचाते ही थे, संस्कृत कवियों में भी आत्म-सम्मान नहीं रह गया था। रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ सरीखे आत्मश्लाघी संस्कृत कवि भी—

'दिल्ली-वल्लभ-पाणि-पल्लव-तले नीतं नवीनं वयः।'

कहकर अपने को कृतार्थ समझ रहे थे, तथा—

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।'

कहकर दिल्लीश्वर की जगदीश्वर से तुलना करके चाटुकारिता की हद कर रहे थे। किंतु ऐसे समय में गोसाईंजी ने—

'कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।'

को सदैव ध्यान में रखा, यह उनकी स्वातंत्र्य-प्रिय प्रकृति का परिचायक है। जिस समय भारत को विदेशियों ने चारों ओर से बेड़ियों से जकड़ रखा था उस समय भी उन्होंने स्वातंत्र्य की ओर जो अभिरुचि दिखाई वह अत्यंत अभिनंदनीय है। शरीर से अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य में रहने पर भी उन्होंने अपने लिये अपना एक स्वतंत्र मंडल स्थापित किया और वे कल्पना से इसी राम-राज्य में सदा विचरण करते रहे जो हिंदू जाति की स्मृति में न्याय और सुख-समृद्धि की इति-मर्यादा के रूप में अंकित है। राम के अतिरिक्त किसी को राजा मानने को वे तैयार न थे। वे निःस्पृह व्यक्ति थे। लोभ से वे कोसों दूर थे। न किसी के मान को चाहते थे और न दान को। जहाँगीर ने उन्हें 'धन धरती' देनी चाही परंतु वे पंडितराज जगन्नाथ की तरह राजा बादशाहों की कृपा के भूखे तो थे ही नहीं जो स्वीकार कर लेते। किसी के सामने हाथ फैलाकर वे राम के दासत्व का अपमान नहीं करना चाहते थे। राम के आश्रय से विकास पाकर गोसाईंजी का व्यक्तित्व हिंदू जाति के व्यक्तित्व में मिल गया जिससे हिंदू जाति को

वह संयत वज्रशक्ति प्राप्त हुई कि कई भयंकर आघातों को सहते हुए भी आज उन्नतमस्तक होकर वह अपने स्थान पर अचल स्थित है। जो उसे नवाने आता है उसी को अंत में नमित होकर उसके चरणों पर वैठ जाना पड़ता है। जो आरंभ में अपने आपको विजयी समझता है वह अंत में अपने को विजित पाता है।

परंतु अपने व्यक्तित्व के विस्तार से हिंदू जाति और संस्कृति की रक्षा का अन्यर्थ विधान करके गोसाईंजी ने मानवजाति के एक अंश-विशेष का ही उपकार नहीं किया, प्रत्युत सारी मानवजाति का हित-साधन किया है, क्योंकि वास्तव में एक जाति-विशेष के वीच विकसित होने पर भी हिंदू संस्कृति सार्वभौम उपयोग की वस्तु है। सारे विश्व को अपनाकर वह सारे विश्व की वस्तु हो गई है। उसे संकुचित अर्थ में हिंदू कहना उसके महदुद्देश्य को न समझना है। वह अविरोध के सिद्धांत पर अवस्थित है। भारतीय संस्कृति की रक्षा में सारी मानव-जाति की रक्षा है। असीम आध्यात्मिक विनय और अनवद्य आधिभौतिक अवज्ञा, ये भारतीय संस्कृति की विशेष-ताएँ हैं जिन्हें अपने जीवन में चरितार्थ कर गोसाईंजी ने विश्व-वंधुत्व के वीज का वपन करके विश्वात्मा के उद्देश्य की सफलता का मार्ग निर्धारित किया है।

---

(१५) अवसान

गोसाईंजी की मृत्यु के विषय में कुछ मत-भेद है। उनकी रचनाओं से पता चलता है कि उनके समय में काशी में प्लेग हुआ था। काशी में इस महामारी का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'शंकर सहर सर नरनारि वारिचर,
विकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात,
भभरि भगात जल थल मीचुमई है॥'

वेणीमाधवदास ने लिखा है कि जिस समय प्लेग हुआ था उस समय मीन का शनैश्चर उतर ही रहा था—

'उतरु सनीचर मीन, मरी परी कासी पुरी।'

गोसाईंजी की निम्नलिखित पंक्ति से भी इसी बात की पुष्टि होती जान पड़ती है—

'एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें,
कोढ़ में की खाज सनीचरी है मीन की।'

गोसाईंजी के जीवन-काल में दो बार मीन का शनैश्चर पड़ा था। एक सं० १६४० से १६४२ तक और दूसरे सं० १६६९ से १६७१ तक। वेणीमाधवदास ने जिस स्थान पर इसका उल्लेख किया है, उसके समयानुक्रम से यदि देखा जाय तो यह घटना सं० १६४२ की ठहरेगी। परंतु ऐसा मानने से इतिहास से भी विरोध पड़ेगा और गोसाईंजी के कथन से भी। यह इतिहास-सिद्ध बात है कि भारत में प्लेग पहले पहल जहाँगीर के समय में हुआ था। जहाँगीर सं० १६६२ में गद्दी पर बैठा था। दूसरे गोसाईंजी ने स्वयं कहा है कि—

'बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की।'

तथा—

'अपनी बीसी आपनें पुरहि लगायो हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौ बिस्व के नाथ॥'

इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि मीन के शनैश्चर के साथ साथ उस समय रुद्रबीसी भी चल रही थी। ज्योतिष की गणना से रुद्रबीसी सं० १६६५ से १६८५ तक थी। अतएव यह परिणाम निकलता है कि सं० १६७१ में ही काशी में प्लेग हुआ होगा, क्योंकि उस समय मीन के शनैश्चर और रुद्रबीसी दोनों एक साथ ठहरते हैं। यह ठीक भी मालूम पड़ता है। इसके थोड़े ही समय पीछे संवत् १६७२-७३ में पंजाब में और सं० १६७४-७५ में आगरे में प्लेग का प्रकोप हुआ जिसका स्वयं जहाँगीर ने अपने ग्रंथ तुजुक जहाँगीरी में वर्णन किया है। प्रतिदिन सैकड़ों आदमी मर जाते थे। जिस घर में शुरू हो जाता था वह स्वाहा ही हो जाता था। लोग घरबार छोड़कर भाग रहे थे, मुर्दों को जलाना या दफनाना तो रहा अलग, लोग जीवित रोगियों के पास भी न जाते थे। काशी में भी महामारी का ऐसा ही भयंकर प्रकोप हुआ था, यह गोसाईंजी के वर्णन से जान पड़ता है। इस रोग के शमन के लिये गोसाईंजी ने रामचंद्रजी, शिवजी, हनुमानजी आदि देवताओं की प्रार्थना की है। कुछ लोगों का विचार है कि गोसाईंजी को भी प्लेग हो गया था और उसी रोग से उन्होंने प्राण विसर्जन किए। परंतु उनके जो कवित्त इस मत के समर्थन में प्रस्तुत किए जाते हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि गोसाईंजी को प्लेग न होकर कोई दूसरा ही रोग हुआ था। उनको बहुत जोर का बाहु-शूल हुआ था। संभवतः यह वेदना बाईं भुजा पर हुई थी, क्योंकि गोसाईंजी ने कहा है—

'वेदन कुभाँति सही न जाति राति दिन,
सोई बाँह गही जो गही समीर डावरे ।'

वायुपुत्र हनुमान ने जो बाँह पकड़ी थी उसी में पीड़ा थी। प्राय: बाँह पकड़नेवाला दाहिने हाथ से बाँह पकड़ता है और दूसरे आदमी की बाई ही भुजा पकड़ने में सुबीता होता है। प्लेग का रोगी तो तीन ही चार दिन में मर जाता है परंतु इनको यह वेदना कई दिन तक रही—

'एते दिन तक रही पीर तुलसी के बाहु की।'

उस घोर पीड़ा से त्राण पाने के लिये इन्होंने हनुमानबाहुक की रचना की। बहुत विनय करने पर भी इन्हें कुछ आराम न हुआ। रोग बढ़ता ही गया। उसने दूसरा रूप धारण किया। सारे शरीर पर बलतोड़ के से फोड़े निकल आए और प्रत्येक अंग दुखने लगा—

'पाँय-पीर, पेट-पीर, बाहु-पीर, मुँह-पीर,
जर जर सकल सरीर पीर मई है।

× × × × ×

असन बसन हीन विषम विषाद लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को ?
तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो सील सिंधु आपने सुभाय को ॥
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइ गो,
विहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
ताते तनु पेषियत घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को ॥'

यहाँ तक पीड़ा बढ़ी कि गोसाईंजी के लिये जीवन भार-स्वरूप हो गया। मरने से वे डरते नहीं थे, परंतु इस प्रकार झीखते हुए

दिन विताना उन्हें अच्छा न लगता था इसलिये उन्होंने विश्वनाथजी से विनय की—

'अधिभूत बेदन विषम होत भूतनाथ,
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तो अनायास कासीवास खास फल,
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं॥'

परंतु जब वे सब देवताओं की प्रार्थना करके थक गए और कुछ भी फल न हुआ तब उन्होंने भी यह सोचकर संतोष किया और मौन हो रहे कि—

'तुम तें कहा न होय, हा हा! सो बुझैये मोहि
हौं हूँ रहौं मौन ही, बयो सोइ लुनिए।'

परंतु उनकी प्रार्थना व्यर्थ न गई, यद्यपि उसका फल जरा देर से मिला और हनुमानजी ने द्रवित होकर उनको आराम कर दिया—

'खायो हुतो तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि,
केसरीकिसोर राखे बीर बरियाई है।'

अतएव यह निश्चय है कि गोसाईंजी की मृत्यु प्लेग से नहीं हुई। काशी में पहली बार के प्लेग के नौ वर्ष बाद सं० १६८० तक वे जीवित रहे और इसी साल असी गंगा के तट पर उनकी मृत्यु हो गई। किस रोग से उनका प्राणांत हुआ, यह नहीं मालूम है। वेणीमाधवदास ने इनकी मृत्यु का समय इस प्रकार दिया है—

'संवत् सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यौ शरीर॥'

परंपरा से भी लोगों की जबान पर यह दोहा बहुत काल से चला आता था। परंतु उसमें तीसरे चरण में 'श्रावण श्यामा तीज शनि' न होकर 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' था। घाघ की घरेलू

कहावतों ने लोगों की स्मृति में श्रावण के साथ शुक्ला सप्तमी का अभिन्न संबंध स्थापित कर दिया है। इसी से संभवतः मूल दोहे में स्वतः यह परिवर्तन हो गया। इसमें तो संदेह नहीं कि गोस्वामीजी की पुण्यतिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी न होकर श्यामा तीज ही है। इसी तिथि को गोसाईंजी के मित्र टोडर के वंशज चौधरी श्री लाल-बहादुरसिंह के यहाँ भी गोसाईंजी के नाम से ब्राह्मण को एक सीधा दिया जाता है। यह प्रथा उनके वंश में परंपरा से चली आई है। वेणीमाधवदास ने तिथि के साथ में वार भी दे दिया है जिससे इस तिथि की ज्योतिष की गणना से भी जाँच की जा सकती है। उस जाँच से भी यह ठीक ही ठहरती है। स्पष्ट मान से गणित करने पर यह तिथि शनिवार अँगरेजी तारीख ५ जुलाई १६२३ को १६ दंड १३ पल निकली है।

यद्यपि गोसाईंजी को शरीर त्याग किए हुए तीन सौ से अधिक वर्ष हो गए हैं, तथापि अपने यशरूपी शरीर से वे अब भी जीवित हैं—

'जयंति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥'

चाहे जिस संबंध में गोसाईं तुलसीदासजी का नाम लिया जाय वह स्वतः ही चमक उठता है। जब तक एक भी हिंदू इस पृथ्वीतल पर रहेगा तब तक वे और उनकी रचनाएँ अमर रहेंगी।

परिशिष्ट (१)

गोस्वामीजी का जीवन-चरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम 'तुलसी-चरित' है। यह बड़ा ही बृहत् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा; इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की छंद-संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—'चौ०—एक लाख तैंतीस हजारा। नौ सै बासठ छंद उदारा।' यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवन-चरित-विषयक नित्य-प्रति के मुख्य मुख्य वृत्तांत लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवर-दासजी-विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह 'तुलसी-चरित' बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय बृहत् ग्रंथ के 'अवध खंड' में लिखा है कि जब श्रीगोस्वामीजी घर से विरक्त होकर निकले तो रास्ते में रघुनाथ नामक एक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामीजी ने उनसे अपना सब वृत्तांत कहा—

गोस्वामीजी का वचन

चौपाई

काल अतीत यमुन तरनी के। रोदन करत चलेहुँ मुख फीके ॥
हिय विराग तिय अपमित वचना। कंठ मोह बैठो निज रचना ॥
खींचत त्याग विराग बटोही। मोह गेह दिसि कर सत सोही ॥
भिरे जुगल बल बरनि न जाहीं। स्पंदन वपू खेत वन माहीं ॥
तिनिहूँ दिशा अपथ महि काटी। आठ कोस मिसिरन की पाटी ॥

पहुँचि ग्राम तट सुतरु रसाला। बैठेहुँ देखि भूमि सुविसाला॥
पंडित एक नाम रघुनाथा। सकल शास्त्रपाठी गुण गाथा॥
पूजा करत डरत मैं जाई। दंड प्रनाम कीन्ह सकुचाई॥
सो मोहि कर चेष्टा सनमाना। बैठि गयउँ महितल भय माना॥
बुध पूजा करि मोहिं बुलावा। गृह वृतांत पूछव मन भावा॥

× × × × ×

जुवा गौर शुचि बढ़नि विचारी। जनु विधि निज कर आपु सँवारी॥
तुम विसोक आतुर गति धारी। धर्मशील नहिँ चित्त विकारी॥
देखत तुम्हहिँ दूरि लगि प्रानी। अदभुत सकल परस्पर मानी॥
तात मात तिय भ्रात तुम्हारे। किमि न तात तुम्ह प्रान पियारे॥
कुटुम परोस मित्र कोउ नाहीं। किधौं मूढ़ पुर वास सदाहीं॥
सन्यपात पकरे सब ग्रामा। चले भागि तुम तजि वह ठामा॥
तव यात्रा विदेश कर जानी। विदरि हृदय किमि मरे अयानी॥
चित्त वृत्ति तुव दुख मह ताता। सुनत न जगत व्यक्त सब बाता॥
मोते अधिक कहत सब लोगा। अजहुँ जुरे देखत तरु योगा॥
कहाँ तात ससुरारि तुम्हारी। तुम्हहिं धाय नहिं गहे अनारी॥
जाति पाँति गृह ग्राम तुम्हारा। पिता पीठि का नाम अचारा॥

दोहा—कहहु तात दस कोस लगि, विप्रन को व्यवहार।
मैं जानत भलि भाँति सब, सत अरु असत विचार॥
चले अश्रु गदगद-हृदय, सात्त्विक भयो महान।
भुवि नख रेख लग्यौं करन, मैं जिमि जड़ अज्ञान॥

चौपाई

दयाशील बुधवर रघुराई। तुरत लीन्ह मोहि हृदयं लगाई॥
अश्रु पोंछि बहु तोष देवाई। बिसे बीस सुत मम समुदाई॥
लखौं चिह्न मिश्रन सम तोरा। विसुचि मंजु मम गोत्र किशोरा॥
जनि रोवसि प्रिय बाल मतीशा। मेटहिं सकल दुसह दुख ईशा॥

धीरज धरि मैं कथन विचारा। पुनि वुध कीन्ह विविध सतकारा॥
परशुराम परपिता हमारे। राजापुर सुख भवन सुधारे॥
प्रथम तीर्थयात्रा महँ आए। चित्रकूट लखि अति सुख पाए॥
कोटि तीर्थ आदिक मुनि-वासा। फिरे सकल प्रमुदित गत आसा॥
वीर मरुतसुत आश्रम आई। रहे रैनि तहँ अति सुख पाई॥
परशुराम सोए सुख पाई। तहँ मारुतसुत स्वप्न देखाई॥
वसहु जाय राजापुर ग्रामा। उत्तर भाग सुभूमि ललामा॥
तुम्हरे चौथ पीठिका एका। तप समूह मुनि जन्म विवेका॥
दंपति तीरथ भ्रमे अनेका। जानि चरित अद्‌भुत गहि टेका॥
दंपति रहे पक्ष एक तहवाँ। गए कामदा शृंग सु जहवाँ॥
नाना चमतकार तिन्ह पाई। सीतापुर नृप के ढिग आई॥
राजापुर निवास हित भाखा। कहे चरित कुछ गुप्त न राखा॥
तरिवनपुर तेहि की नृपधानी। मिश्र पशुरामहिं नृप आनी॥

दोहा—अति महान विद्वान लखि, पठन शास्त्र षट जासु।
वहु सन्माने भूप तहँ, कहि द्विज मूल निवासु॥
सरयू के उत्तर वसत, मंजु देश सरवार।
राज मँझवली जानिए, कसया ग्राम उदार॥
राजधानि ते जानिए, कोश विंश त्रय भूप।
जन्मभूमि मम और पुनि, प्रगट्यो वैाध स्वरूप॥

चौपाई

वौध स्वरूप पेंड ते भारी। उपल रूप महि दीन वलारी॥
जैनाभास चल्यो मत भारी। रक्षा जीव पूर्ण परिचारी॥
हेम सुकुल तेहि कुल के पंडित। क्षत्री धर्म सकल गुण मंडित॥
मैं पुनि गाना मिश्र कहावा। गणपति भाग यज्ञ महँ पावा॥
मम विनु महावंश नहिं कोई। मैं पुनि विन संतान जो सोई॥
तिरसठि अब्द देह मम राजा। तिमि सम पत्नि जानि मति भ्राजा॥

खचित स्वप्नवत लखि मरलोका । तीरथ करन चलेहुँ तजि सोका ॥
चित्रकूट प्रभु आज्ञा पावा । प्रगट स्वप्न बहु विधि दरसावा ॥
भूप मानि मैं चलेहुँ रजाई । राजापुर निवास की ताई ॥
निर्धन बसब राजपुर जाई । वृत्त कलिंदि तीर सचु पाई ॥
नगर गेह सुख मिलै कदापी । बसव न होहिं जहाँ परितापी ॥
अति आदर करि भूप बसावा । वाममार्ग पथ शुद्ध चलावा ॥
स्वाद त्यागि शिव शक्ति उपासी । जिनके प्रगट शंभु गिरिवासी ॥
परशुराम काशी तन त्यागे । राम मंत्र अति प्रिय अनुरागे ॥
शंभु कर्णगत दीन सुनाई । चढ़ि विमान सुरधाम सिधाई ॥
तिनके शंकर मिश्र उदारा । लघु पंडित प्रसिद्ध संसारा ॥

दोहा—परशुरामजू भूप को, दान भूमि नहिं लीन ।
शिष्य मारवाड़ी अमित, धन गृह दीन्ह प्रवीन ॥
वचन सिद्धि शंकर मिसिर, नृपति भूमि बहु दीन ॥
भूप रानि अरु राज नर, भए शिष्य मति लीन ॥
शंकर प्रथम विवाह ते, वसु सुत करि उत्पन्न ।
द्वै कन्या द्वै सुत सुबुध, निसि दिन ज्ञान प्रसन्न ॥

चौपाई

जीवित मृतक कीन अनु ब्याहा । ताते मोरि साख बुधनाहा ॥
तिनके संत मिश्र द्वै भ्राता । रुद्रनाथ एक नाम जो ख्याता ॥
सोउ लघु बुध शिष्यन्ह महँ जाई । लाय द्रव्य पुनि भूमि कमाई ॥
रुद्रनाथ के सुत भे चारी । प्रथम पुत्र को नाम मुरारी ॥
सो मम पिता सुनिय बुध त्राता । मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता ॥
ज्येष्ठ भ्रात मम गणपति नामा । ताते लघु महेस गुण धामा ॥
कर्मकांड पंडित पुनि दोऊ । अति कनिष्ठ मंगल कहि सोऊ ॥
तुलसी तुलाराम मम नामा । तुला अन्न धरि तौलि स्वधामा ॥
तुलसिराम कुल गुरू हमारे । जन्मपत्र मम देखि विचारे ॥

हस्त प्रास पंडित मतिधारी। कह्यो बाल होइहिं व्रतधारी ॥
धन विद्या तप होय महाना। तेजरासि बालक मतिमाना ॥
भरतखंड एहि सम एहि काला। नहिं महान कोउ परमति शाला ॥
करिहिं खचित नृपगन गुरुवाई। बचन सिद्धि खलु रहहिं सदाई ॥
अति सुंदर सरूप सित देहा। बुध मंगल भाग्यस्थल गेहा ॥
तातें यह विदेह सम जाई। अति महान पदवी पुनि पाई ॥
पंचम केतु रुद्र गृह राहू। जतन सहस्र वंश नहिं लाहू ॥

दोहा—राज योग दोउ सुख सु एहि, होहिं अनेक प्रकार।
अन्दै दया मुनीस को, लियो जन्म वर वार ॥

चौपाई

प्रेमहि तुलसि नाम मम राखी। तुलारोह तिय कहि अभिलाषी ॥
मातु भगिनि लघु रही कुमारी। कीन व्याह सुंदरी विचारी ॥
चारि भ्रात द्वै भगिनि हमारे। पिता मातु मम सहित निसारे ॥
भ्रात पुत्र कन्या मिलि नाथा। षोडस मनुज रहे एक साथा ॥

× × × × ×

बानी विद्या भगिनि हमारी। धर्म शील उत्तम गुण धारी ॥

× × × × ×

दोहा—अति उत्तम कुल भगिनि सब, व्याही अति कुसलात।
हस्त प्रास पंडितन्ह गृह, व्याहे सब मम भ्रात ॥

चौपाई

मेर व्याह द्वै प्रथम जो भएऊ। हस्त प्रास भार्गव गृह ठएऊ ॥
भईं स्वर्गवासी दोउ नारी। कुलगुरु तुलसि कहेउ व्रतधारी ॥
तृतिय व्याह कंचनपुर माहीं। सोइ तिय बच विदेश अवगाही ॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाई ॥
कुलगुरु कथन भई सब साँची। सुख धन गिरा अवर सब काँची ॥
सुनहु नाथ कंचनपुर ग्रामा। उपाध्याय लछिमन अस नामा ॥

परिशिष्ट (२)

वावा वेणीमाधवदास-कृत

मूल गोसाइँचरित

सोरठा—संतन कहेउ बुझाय, मूलचरित पुनि भाषिए।
अति संक्षेप सोहाय, कहौं सुनिय नित पाठ हित ॥१॥
चरित गोसाइँ उदार, वरनि सकै नहिं सहसफनि।
हौं मतिमंद गँवार, किमि वरनौं तुलसी-सुजस ॥२॥

तोटक

ऋषि आदि कवीस्वर ग्याननिधी। अवतरित भए जनु आपु विधी ॥
सत कोटि बखानेउ राम-कथा। तिहुँ लोक में वाँटेउ संभु जथा ॥
दस स्यंदन वेद दसांगमयं। स्रुति त्रैविधि तीनिउ रानिजयं ॥
श्रीराम प्रनव स्रुतितत्त्व परं। निज अंसनि जुत नरदेह धरं ॥
इमि कीन्ह प्रवंध मुनीस जथा। हरि कीन्ह चरित्र पवित्र तथा ॥
हनुमंत प्रनव प्रिय प्रान रसै। परतत्त्व रसै तिसु सीस लसै ॥
यहि भाँति परातपर भाव लिए। सुचि राम परत्व वखान किए ॥
मुनिराज लखे अद्‌भुत रचना। कपिराज सों कीन्ह इहै जँचना ॥
यह गुप्त रहस्य है गोइ धरैं। विनती हमरी न प्रकास करैं ॥
तव-अंजनि-नंदन साप दियो। हँसिकै मुनि धारन सीस कियो ॥

दोहा—सहनसीलता मुनि निरखि, पवन-कुमार सुजान।
वहु विधि मुनिहिं प्रसंसि पुनि, दिए अभय वरदान ॥१॥

कलिकाल में लैहहु जन्म जवै। कलि ते तव त्रान सदा करिवै ॥
तेहि साप के कारन आदि कवी। तमपुंज निवारन हेतु रवी ॥
उदए हुलसी उदघाटिहि ते। सुर संत सरोरुह से विकसे ॥
सरवार सुदेस के विप्र वड़े। सुचि गोत परासर टेक कड़े ॥

सुभ थान पतेजि रहे पुरखे। तेहि ते कुल नाम पड़ो झुरखे॥
यमुना - तट दूबन को पुरवा। बसते सब जातिन को कुरवा॥
सुकृती सतपात्र सुधी मुखिया। रजियापुर राजगुरू मुखिया॥
तिनके घर द्वादस मास परे। जब कर्क के जीव हिमांसु चरे॥
कुज सप्तम अट्ठम भानु-तनै। अभिहित सुठि सुंदर साँझ समै॥

दोहा—पंद्रह सै चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सत्तिमी, तुलसी धरेउ सरीर॥ २॥

सुत जन्म बधाव लग्यो बजने। सबने छजने रजने गजने॥
एक दासि कढ़ी तेहि अवसर में। कहि देव बुलाहट है घर में॥
सिसु जन्मत रंचक रोओ नहीं। सो तो बोलेउ राम गिरेउ ज्यों मही॥
अब देखिय दंत बतीसी जमी। नहिं खोल्हड़ पाँति मैं नेक कमी॥
जस बालक पाँच को देखिय जू। तस जन्मतुआ निज लेखिय जू॥
अब बूढ़ि भई भरि जन्म नहीं। सिसु ऐसो मैं देखिउँ तात कहीं॥
महरी कहती सुनि सेख धुनी। जबहीं सो समय सिसुनार छुनी॥
जो लोगाइ हर्ती कपर्ती बकर्ती। कोउ राकस जामेउ कहि भखतीं॥
महराज चलिय अब बेगि घरे। समुझाइ प्रसूति को ताप हरे॥

दोहा—उठे तुरत भृगुवंसमनि, सुनत चेरि के बैन।
ठाढ़ प्रसूती द्वार भे, पूरित जल सों नैन॥ ३॥

छंद—पूरित सलिल दृग निरखि सिसु परिताप-जुत मानस भए।
मन महँ पुराकृत पाप को परिनाम गुनि बाहिर गए॥
तब जुरे सब हित मित्त बांधव गनक आदि प्रसिद्ध जे।
लागे विचारन का करिय नवजात सिसु कहँ कहहिं ते॥ १॥

दोहा—पंचन यह निरनय कियो, तीन दिवस पश्चात।
जियत रहै सिसु तब करिय, लौकिक वैदिक बात॥ ४॥

दसमी पर लागेउ ग्यारस ज्यों। घरि आठक राति गई जब त्यों॥
हुलसी प्रिय दासि सों लागि कहै। सखि प्रान पखेरू उड़ान चहै॥

अब हीं सिसु लै गवनहु हरिपुर । बसते जहँ तोरिउ सास ससुर ॥
तहँ जोइवि पालवि मोर लला । हरिजू करिहैं सखि तोर भला ॥
नहिं तो ध्रुव जानहु मोरे मुए । सिसु फेंकि पवारहिंगे भकुए ॥
सखि जान न पावै कोऊ बतियाँ । चलि जायहु मग रतियाँ रतियाँ ॥
तेहि गोद दियो सिसु ढारस दै । निज भूषन दै दियो ताहि पठै ॥
चुपचाप चली सो गई सिसु लै । हुलसी उर सूनु वियोग फवै ॥
गोहराइ रमेस महेस विधी । विनती करि राखव मोर निधी ॥

दोहा—ब्रह्म मुहूर्त एकादशी, हुलसी तजेउ सरीर ।
होत प्रात अंत्येष्टि हित, लैगे जमुना तीर ॥ ५ ॥

घरि पाँच इक बार चढ़ै मुनिआ । निज सास के पाय गहौ चुनिआ ॥
सब हाल हवाल बताय चली । सुनि सास कही बहु कीन्ह भली ॥
घर माहिं कलोर को दूध पिआ । बिनु माय को है सिसु लेसि जिआ ॥
तहँ पालन सो लगि नेह भरै । जेहि ते सिसु रीझइ सोइ करै ॥
यहि भाँति सों पैंसठ मास गए । सिसु बोलन डोलन जोग भए ॥
चुनियाँ सुरलोक सिधार गई । डस्यो पन्नग ज्यों सो कोरार गई ॥
तव राजगुरू को कहाव गयो । सुनिकै तिनहूँ दुख मानि कह्यो ॥
हम का करिबै अस बालक लै । जेहि पालै जो तासु करै सोइ छै ॥
जनमेउ सुत मोर अभागो महीं । सो जिए वा मरै मोहिं सोच नहीं ॥

दोहा—वेनी पूरब जनम कर, करम-विपाक प्रचंड ।
विना भोगाए टरत नहिं, यह सिद्धांत अखंड ॥ ६ ॥

छंद—सिद्धांत अटल अखंड भरि ब्रह्मंड व्यापित सत जथा ।
जहँ मुनिवरन की यह दसा तहँ पामरन की का कथा ॥
निज छति विचारि न राख कोऊ दया दृग पाछे दियो ।
डोलत सो बालक द्वार द्वार विलोकि तेहि विहरत हियो ॥ २ ॥

सोरठा—बालक दसा निहारि, गौरा माई जग जननि ।
द्विज तिय रूप सँवारि, नितहिं पवा जावहिं असन ॥३॥

दुइ वत्सर बीतेउ यादि रसे। पुर लोगन कौतुक देखि कसे॥
जिन जोह जसूस पै आय जकै। परिचय द्विज नारि न पाइ थकै॥
चर नारि हती तहँ सो परखी। जब माय खवाय लला टरखी॥
परि पाँय करी हठ जान न दे। जगदंब अदृश्य भई तब ते॥
सिव जानि प्रिया व्रत हेतु दियो। जन लौकिक सुलभ उपाय कियो॥
प्रिय सिष्य अनंतानंद हते। नरहर्य्यानंद सुनाम छते॥
वसै रामसुसैल कुटी करिकै। तल्लीन दसा अति प्रिय हरि कै॥
तिन कहँ भव दरसन आपु दिए। उपदेसहुँ दै कृतकृत्य किए॥
प्रिय मानस रामचरित्र कहे। पठए तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥

दोहा—लै बालक गवनहु अवध, विधिवत मंत्र सुनाय।
मम भाषित रघुपति-कथा, ताहि प्रबोधहु जाय॥ ७॥
जब उवरहिं अंतर दृगनि, तब सो कहिहि बनाय।
लरिकाई को पैरिबो, आगे होत सहाय॥ ८॥

सोरठा—संभु वचन गंभीर, सुनि मुनि अति पुलकित भए।
सुमिरि राम रघुबीर, तुरत चले हरिपुर तके॥ ४॥

पुर हेरि के बालक गोद लिए। द्विजपुत्र अनाथ सनाथ किए॥
कह्यो रामबोला न सोच करै। पलिहैं पोसिहैं सब भाँति हरै॥
सो तो जानेउ दीनदयाल हरी। मम हेतु सुसंत को रूप धरी॥
पुरलोगन केर रजाय लिए। सह बालक संत पयान किए॥
पहुँचे जब औधपुरी नगरे। विचरे पुर वीथिन माँ सगरे॥
पंद्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी॥
सरयू तट विप्रन जग्य किए। द्विज बालक कहँ उपवीत दिए॥
सिखए विनु आपुइ सो बरुआ। द्विजमंत्र सवित्रि सुउच्चरुआ॥
विस्मययुत पंडित लोग भए। कहे देखत बालक विग्य ठए॥

दोहा—नरहरि स्वामी तब किए, संसकार विधि पाँच।
रामभंत्र दिय जेहि छुटै, चौरासी को नाँच॥ ९॥

दस मास रहे मुनिराज तहाँ। हनुमान सुटीला विराज जहाँ॥
निज सिष्यहिं विद्या पढ़ाय रहे। अरो पानिनि सूत्र घोखाय रहे॥
लघु वालक धारनसक्ति जगी। अनुरक्ति सभक्ति दिखान लगी॥
हरषे गुनग्राम विचार हिए। पद चापत आसिष भूरि दिए॥
जव तें जनमेउ तव तें अब लों। निज दीन दसा कहिगो गुरु सों॥
ठक से रहिगे सुनि वाल-कथा। करुना उर में उपजाइ व्यथा॥
मुनि धीर भरे दृग नीर रहे। गुरु सिष्य दसा कवि कौन कहे॥
समुझाइ बुझाइ लगाइ हिए। कहि भावि भलाइ प्रसांत किए॥
हरिप्रिय ऋतु लाग हेमंत जवै। सिष संग लै कीन्ह पयान तवै॥

दोहा—कहत कथा इतिहास वहु, आए सूकरखेत।
संगम सरयू घावरा, संत जनन सुख देत॥ १०॥

तहवाँ पुनि पाँचइ वर्ष वसे। तप में जप में सव भाँति रसे॥
जव सिष्य सुवोध भयो पढ़िकै। मति जुक्ति प्रवीन भई गढ़िकै॥
सुधि आइ महेस सिखावन की। परतत्त्व प्रवंध सुनावन की॥
तव मानस रामचरित्र कहे। सुनिकै मुनि वालक तत्त्व गहे॥
पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे। अति गूढ़ कथा समुझावत भे॥
यहि भाँति प्रवोधि मुनीस भले। वसुपर्व लगे सह सिष्य चले॥
विस्राम अनेक किए मग में। जल अन्न को खेल मच्यो जग में॥
कतहूँ सुकृतिन उपदेस करैं। कवहूँ दुखिया दुखदाप हरैं॥

दो०—विचरत विहरत मुदित मन, पहुँचे कासी धाम।
परम गुरू सुस्थान पर, जाय कीन्ह विस्राम॥ ११॥

सुठि घाट मनोहर पंच पगा। गँगिया कर कौतुक केलि भगा॥
पुनि सिद्ध सुपृष्ट प्रतिष्ठित सो। वहुकाल यतींद्र रहे जु नसो॥
तहवाँ हते सेष सनातन जू। वपुवृद्ध वरंच युवा मन जू॥
निगमागम-पारग ज्योति फवै। मुनि सिद्ध तपोधन जान सवै॥
तिन रीझि गए वटु पै जव ही। गुरु स्वामि सों सुंदर वात कही॥

निज सिष्यहिं देइय मोहिं मुनी। तिसु वृत्ति दुनी नहिं ध्यान धुनी ॥
हौं ताहि पढ़ाउब वेद चहूँ। अरु आगम दरसन पात छहूँ ॥
इतिहास पुरानरु काव्यकला। अनुभूत अलभ्य प्रतीक फला ॥
विदान महान बनाउब जू। सुन आपु महासुख पाउब जू ॥

दोहा—आचारज विनती सुनत, पुलकित भे मुनिधीर।
बटु बुलाय सौंपत भए, पावन गंगा-तीर ॥ १२ ॥

कछु दिन रहिगे यति-प्रवर, पढ़न लगो बटु-भास।
चित्रकूट कहँ तब गए, लखि सब भाँति सुपास ॥ १३ ॥

बटु पंद्रह वर्ष तहाँ रहिकै। पढ़ि सास्त्र सबै महिकै गहिकै ॥
करिकै गुरु-सेवा सदय तन ते। गत देह क्रिया करि सौ मन ते ॥
चले जन्मथली को विषाद भरे। पहुँचे रजियापुर के बगरे ॥
निज भौन बिलोकेउ ढूह ढहा। कोउ जीवन जोग न लोग रहा ॥
इक भाट बखानेउ ग्राम कथा। दिजवंस को नास भयो जु जथा ॥
कह्यो जा दिन नाइ से राज गुरू। तब त्याग की बोलेउ बात करू ॥
तहँ बैठ रह्यो तप तेज धनी। तिन साप दियो गहि नागफनी ॥
षट मास के भीतर राजगुरू। दस वर्ष के भीतर वंस मरू ॥
सुनिकै तुलसी मन सोक छए। करि स्राद्ध यथाविधि पिंड दए ॥

दोहा—पुर लोगन अनुरोध ते, दियो भवन बनवाय।
रहन लगे अरु कहत भे, रघुपति-कथा सुहाय ॥१४॥

यमुना पर तीर मों तारिपतो। भरद्वाज सुगोत को विप्र हतो ॥
कतिकी दुतिया कर न्हान लगे। सकुटुंब सो आयउ संग सगे ॥
करि मज्जन दान गए तहवाँ। तुलसीसुत बाँच कथा जहवाँ ॥
छवि व्यास बिलोकि प्रसन्न भए। सब लोगन बूझि स्वठाम गए ॥
पुनि माधव मास में आय रहे। कर जोरिके सुंदर बात कहे ॥
महराति जबै नगिचाय रही। सपने जगदंब चेताय रही ॥

सुभ राउर नाँव बताय रही। सब ठाँव ठिकान जताय रही॥
हौं हेरत हेरत आयों इतै। मोहिं राखिय हौं अब जाव किते॥

दोहा—सुनत विनय सोचन लगे, पुनि बोले सकुचाय।
ब्याह बरेखी ना चहौं, अनत पधारिय पाय॥ १५॥

द्विज मानै नहीं धरना धरिकै। नहिं खाय पियै रसना करिकै॥
दुसरे दिन जब स्वीकार कियो। तब विप्र हठी जल अन्न लियो॥
घर जाय सोधाय के लग्न धरो। उपरोहित भेजि प्रसस्त कियो॥
इत ते पुरलोगन जोग दिए। सब साज-समान बरात किए॥
पंद्रह सै पार तिरासि विषै। सुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै॥
अधिरात लगै जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की परी पँवरी॥
ललना मिलि कोहवर माहिँ रसीं। बरनायक पंडित सो बिहँसीं॥
तिसरे दिन माँडवचार भयो। सुचि भगति सो दान दहेज दयो॥

दोहा—विदा करा दुलहो चले, पंडितराज महान।
आए निज पुर अरु किए, लोकाचार-विधान॥ १६॥

पुर नारि जुरीं गुरु भौन गईं। दुलहीं मुख देखि निहाल भईं॥
हुलसी-सुत देखेउ नारि-छटा। मुख इंदु ते घूंघट-कोर हटा॥
मन प्रानप्रिया पर वारि दिए। जस कौसिक मेनका देखि भए॥
दिन रात सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥
सर वर्ष परस्पर चाव चए। पल ज्यों रसकेलि में बीत गए॥
नहिं जाने दें आपु न जाय कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥
दुखिया जननी मुख देखन को। पितु ग्राम सुआसिनि पेखन को॥
सह बंधु गई चुपके सो सती। वरखासन ग्राम हते जु पती॥
जब साँझ समय निज गेह गए। घर सून निहारि ससोच भए॥
तब दासि जनायउ सौं करि कै। निज बंधु के संग गई मैकै॥
सुनते उठिकै ससुरारि चले। अति प्रेम प्रगाढ़ विसेष पले॥
कौनिउ विधि तें सरि पार किए। पहुँचे सब सोवत द्वार दिए॥

छंद—द्वै द्वार सोवहिं लोग नींद तुराइ गोहरावन लगे।
स्वर चीन्हि द्वार कपाट खोली झमकि भामिनि सगबगे॥
बोली बिहँसि बानी विमल उपदेस सानी कामिनी।
कस बस चले प्रेमांध ज्यों नहिं सुधि अँधेरी यामिनी॥ ३॥

दोहा—हाड़ मांस को देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भवभीति॥ १७॥

सोरठा—लाग वचन जिमि बान, तुरत फिरे बिरमें न छिन।
सोचेउ निज कल्यान, तब चित चढ़ेउ जो गुरु कहेउ॥ ५॥

दोहा—नरहरि कंचन कामिनी, रहिए इनते दूर।
जो चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरपूर॥ १८॥

उठि दौरि मनावन सार गयो। पिछुआए रह्यो जब भोर भयो॥
नहिं फेरे फिरे फिरि आयो घरै। भगिनी निज मूर्च्छित देख्यो परै॥
मुर्च्छा जु हटी उठि बोलि सती। पिय को उपदेसन आइ हती॥
पिय मोर पयान कियो बन को। हौं प्रान पठाउँ तजौं तनु को॥
कहिकै अस सो निज देह तजी। सुरलोक गई पति धर्मध्वजी॥
सत पंद्रह युक्त नवासि सरै। सुअसाढ़ बदी दसमीहुँ परै॥
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तन त्याग करी॥
भयो भोर कहें कोउ सिद्ध मुनी। परमारथ विंदक तत्व गुनी॥
द्विजगेह में सारद देह धरी। रति रंग रमा रस राग हरी॥

दोहा—कोउ कह तिय की मुखनि ते, बोलेउ श्रीभगवान।
मोह निवारेउ भगत कर, साहिब सीलनिधान॥ १९॥

हुलसीसुत तीरथराज गए। अरु मंजि त्रिवेनि कृतार्थ भए॥
गृहिवेष विसर्जन कीन्ह तहाँ। मुनिवेष सँवारि चले फफहाँ॥
गढ़ हेलि रु धेनुमती तमसा। पहुँचे रघुवीरपुरी सहसा॥
तहवाँ चौमासक लों बसिकै। प्रिय संत अनंत विभू रसिकै॥
चले बेगि पुरी कहँ धाम महा। बिस्राम पचीसक बीच रहा॥

तिनमाँ दुइ ठाम प्रधान गुनो। वरदानरु साप की बात सुनो॥
घड़ि चारि दुबौलि में वास किए। हरिराम कुमारहिं साप दिए॥
सो प्रसिद्ध सुप्रेत भयो तेहिते। हरिदरसन आपु लह्यो जेहि ते॥
पुनि चारुकुँवरि वरदान दियो। जिन संत सुसेवा लियोरु कियो॥
दोहा—जगन्नाथ सुखधाम में, कछुक दिना करि वास।
लिखे वाल्मीकी स्वकर, जब तब लहि अवकास॥ २०॥
रामेस्वर कहँ कीन्ह पयाना। तहँते द्वारावति जग जाना॥
बहुरि तहाँ ते चलि हरषाई। बदरी धामहिं पहुँचे जाई॥
नारायन ऋषि व्यास सोहाए। दरस दिए मानस गुन गाए॥
तहँ ते अति दुर्गम पथ लयऊ। मान सरोवर कहँ चलि गयऊ॥
जिय को लोभ तजै जो कोई। सो तहँ जाइ कृतारथ होई॥
तहँ करि दिव्य संत सत्संगा। जाते होवै भवरस भंगा॥
दिव्य सहाय पाय मुनिराई। जात रुपाचल देखेउ जाई॥
नीलाचल कर दरसन कीन्हें। परम सुजान भुसुंडिहिं चीन्हें॥
लौटि सरोवर पै पुनि आए। गिरि कैलास प्रदच्छिन लाए॥
दोहा—इमि करि तीर्थाटन सफल, निवसे भव वन जाय।
चौदह वरिस रु मास दस, सतरह दिवस विताय॥ २१॥
टिकिके तहँ चातुर्मास किए। नित रामकथा कहि हर्ष हिए॥
वनवासि सुसंत सुनैं नित सो। सुनि होहिं अनंदित ते चित सों॥
वन मां इक पिप्पल रूख हतो। तिसु ऊपर प्रेत निवास छतो॥
जल सौच गिरावहिं तासु तरे। सोइ पानिय प्रेत पियास हरे॥
जब जानेउ सो कि अहैं मुनि ये। जिन वालपने मोहिं साप दिये॥
तब एक दिना सो प्रतच्छ कह्यो। कहिए सो करौं जस भाव अह्यो॥
तुलसी सुत बोलेउ मोरे मना। रघुनंदन दरसन को चहना॥
सुनि प्रेत कह्यो जु कथा सुनिवै। नित आवत अंजनिपूत अजै॥
सब ते प्रथमै सो तो आवहिं जू। सब लोगन पाछे सो जावहिं जू॥

सोरठा—वेष अमंगल धारि, कुष्ठी को तनु जानि यहि।
अवसर नीक विचारि, चरन गहिय हठ ठानि यहि ॥ ६ ॥

छंद—हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिवर विनय बहु विधि भाषेऊ।
पद गहि न छाड़ेउ पवनसुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ॥
रघुवीर दरसन मोहिं कराइय मुनि कहेउ गद्गद बचन।
तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहाँ दरस पैहहु चखन ॥ ४ ॥

दोहा—श्री हनुमंत प्रसंग यह, विमल चरित विस्तार।
लहेउ गोसाईं दरस रस, विदित सकल संसार ॥ २२ ॥

चित चेति चले चितकूट चितय। मन माहिं मनोरथ को उपचय॥
जब सोचहिं आपन मंद कृती। पग पाछ पड़ै जु रहै न धृती॥
सुधि आवत राम स्वभाव जबै। तब धावत मारग आतुर ह्वै॥
यहि भाँति गोसाईं तहाँ पहुँचे। किय आसन राम सुघाटहि पै॥
इक बार प्रदच्छिन देन गए। तहँ देखत रूप अनूप भए॥
जुग राजकुमार सु अस्व चढ़ै। मृगया वन खेलन जात कढ़ै॥
छवि सो लखि कै मन मोहेउ पै। अस को तनुधारि न जानि सकै॥
हनुमंत बतायउ भेद सबै। पछिताइ रहे ललचाइल ह्वै॥
तब धीरज दीन्हेउ वायुतनय। पुनि होइहि दरसन प्रात समय॥

दोहा—सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिसु घाट पै, विरही होतहि प्रात ॥ २३ ॥

सोरठा—प्रकटे राम सुजान, कहेउ देहु बाबा मलय।
सुक बपु धरि हनुमान, पढ़ेउ चेतावनि दोहरा ॥ ७ ॥

दोहा—चित्रकूट के घाट पै, भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसैं, तिलक देत रघुबीर ॥ २४ ॥

छंद—रघुवीर छवि निरखन लगे बिसरी सबै सुधि देह की।
को घिसै चंदन दृगन तें बहि चली सरित सनेह की ॥

प्रभु कहेउ पुनि सो नाहिं चेतेउ स्वकर चंदन लै लिए।
दै तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अंतर्हित किए॥ ५॥

दोहा—विरह व्यथा तलफत पड़े, मगन ध्यान इकतार।
रैन जगाए वायुसुत, दीन्हे दसा सुधार॥ २५॥

सुक पाठ पढ़ावत नारि नरा। करतल पर लै सुक को पिंजरा॥
हुलसी-सुत भक्ति महा महिमा। तत्कालहिं छाय रही महि माँ॥
दिन एक प्रदच्छिन कामद दै। पहुँचे सौमित्र पहाड़िहिं पै॥
तहँ स्वेतक सर्प पड़्यो मग में। सित गात मनोहर या जग में॥
तिसु ओर विलोकि गोसाँई कहे। चंद्रोपम सुंदर नाग अहै॥
हरि सृष्टि विचित्र कहे न बनै। निगमागम सारद सेष भनै॥
ऋषि दृष्टि पड़ै तिसु पाप गयौ। तव पन्नग य्यानि ललात भयो॥
मोहि छूइकै तारिय नाथ अवै। छुअतेहि गयो सो भुजंग अयै॥
योगश्रि मुनी तहँ छोत भए। निज पूर्व कथा कहि वास लए॥

दोहा—यह प्रभाव मुनिनाथ कर, सुनि गुनि संत सुजान।
आवन लागे दरस हित, भीर भयो ऋषि थान॥ २६॥

वड़ि भीर निहारि गुफा में ढुके। वहिरंतर हानि विचारि लुके॥
मुनि आवहिं जोगि तपी रु यती। विनु दरसन जाहिं निरास अती॥
दरियानँद स्वामिहुँ आय रहे। निज आसन टेकि जमाय रहे॥
लघुसंका के हेतु गोसाईं कढ़े। कर जोरि सो स्वामि भए जु ठढ़े॥
कहे नाथ है होत अनीति वड़ी। छमिए कहिवो मम वात कड़ी॥
लघुसंका लगे वहिरात हैं जू। सुनि साधु गिरा छिपि जात हैं जू॥
दुख पावत सज्जन हैं तेहि ते। विनती हौं करौं सुनिए यहि ते॥
हौं देत मचान वँधाय अवै। तेहि ऊपर आसन नाथ फवै॥
करि दरसन होव निहाल सवै। सुठि संत समागम होइ जवै॥

दोहा—विनती दरियानंद की, मानि सजाय मचान।
वैठत दिन भर लहत सुख, साधक सिद्ध सुजान॥ २७॥

नित नव सत्संग उमाह बढ़ै। सुचि संत हृदय रसरंग चढ़ै ॥
नित नित्य विहारहु देखत हैं। मृगया कर कौतुक पेखत हैं ॥
वृंदावन ते हरिवंस हितू। प्रियदास नवल निज सिष्य भृतू ॥
पठए तिन आइ जोहार किए। गुरुदत्त सुपोथि सप्रेम दिए ॥
जमुनाष्टक राधा-सुधानिधि जू। अरु राधिकातंत्र महा विधि जू ॥
अरु पाति दई हित हाथ लिखी। सोरह सै नव जन्माष्टमि की ॥
तेहि माहिं लिखी विनती बहुरी। सोइ बात मुखागर सो कहुरी ॥
रजनी महरास की आवत जू। चित मोर सदय ललचावत जू ॥
रसिकै रस मों तनु त्याग चहौं। मोहि आसिष देइय कुंज लहौं ॥

सोरठा—सुनि विनती मुनिनाथ, एवमस्तु इति भाखेउ।
तनु तजि भए सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेस करि ॥ ८ ॥

दोहा—संडीला ते आय कै, वसु स्वामी नँदलाल।
पढ़े रामरच्छा विवृति, जो भक्तन को ढाल ॥ २८ ॥

षट मास रहै सत्संग लहै। चलती विरियाँ कछु चिह्न चहै ॥
दियो सालग्राम की मूर्ति भली। निज हस्त लिखित कवच औ कमली ॥
इमि जादव माधव वेनि उभय। चितसुख करुनेस अनंद सदय ॥
तपसी सुमुरारि उधार जवी। विरही भगवंत सुभागवती ॥
विभवानँद देव दिनेस मिले। अरु दच्छिन देस के स्वामि पिले ॥
सब रंग रँगे सतसंग पगे। अहमादि कुनींद सुषुप्त जगे ॥
कहै धन्य गोसाईं जु जन्म लए। लहि दरसन हौं कृतकृत्य भए ॥
दृग नीर ढरै नहिं बोल सरै। सब जाहिं सप्रेम प्रमोद भरै ॥
वसु संवत साधु समागम मों। कटिगो नहिं जानि पर्‍यो किमि धों ॥

दोहा—सोरह सै सोरह लगै, कामद गिरि ढिग वास।
सुचि एकांत प्रदेस महँ, आए सूर सुदास ॥ २९ ॥
पठए गोकुलनाथजी, कृष्ण रंग में बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन्ह गोसाईं छोरि ॥ ३० ॥

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नट नागर को ॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पदपंकज पै सिर नाय कहे ॥
अस आसिष देइय स्याम ढरैं। यहि कीरति मोरि दिगंत चरैं ॥
सुनि कोमल बैन सुदादि दिए। पद पोथि उठाय लगाय हिए ॥
कहै स्याम सदा रस चाखत हैं। रुचि सेवक की हरि राखत हैं ॥
तनिको नहिं संसय है यहि माँ। स्रुति सेष बखानत हैं महिमा ॥
दिन सात रहे सतसंग पगे। पदकंज गहे जब जान लगे ॥
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किए। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिए ॥
लै पाति गए जब सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी ॥

दोहा—तब आयो मेवाड़ ते, विप्र नाम सुखपाल।
मीरा बाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल ॥ ३१ ॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय ॥ ३२ ॥

तड़के इक बालक आन लग्यो। सुठि सुंदर कंठ सों गान लग्यो ॥
तिसु गान पै रीझि गोसाइं गए। लिखि दीन्ह तबै पद चारि नए ॥
करि कंठ सुनायउ दूजे दिना। अड़ि जाय सो नूतन गान बिना ॥
मिसु याहि बनावन गीत लगे। उर भीतर सुंदर भाव जगे ॥
जब सोरह सै बसु बीस चढ़्यो। पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ़्यो ॥
तेहि राम गीतावलि नाम धर्यो। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्यो ॥
दोउ ग्रंथ सुधारि लिखै रुचि सों। हनुमंतहिं दीन्ह सुनाय जिसों ॥
तब मारुति ह्वै कै प्रसन्न कह्यौ। करि प्यान अवधपुर जाइ रह्यौ ॥
इमि इष्ट को आयसु पाइ चले। बिरमे सुठि तीरथराज थले ॥

दोहा—तेहि अवसर उत्तम परब, लागो मकर नहान।
जोगी तपी जती सती, जुरै सयान अजान ॥ ३३ ॥

तेहि पर्व ते पाछे गए दिन छै। बट छाँह तरे जु लख्यो मुनि द्वै ॥
तपपुंज दोऊ मुख कांति तपै। छवि छाम छपाकर छंद छपै ॥

करि दंड-प्रनाम सुदूरहिं ते। कर जोरि कै ठाढ़ भए तहिं ते॥
मुनि सैन सों एक हँकारि लियो। अपने ढिग आसन चारु दियो॥
तेहि टारि कै भूमि में वैठि गए। परिचय निज दै परिचाय लए॥
सोइ रामकथा तहँ होत रह्यो। गुरु सूकरखेत में जौन कह्यो॥
विस्मययुत बूझेउ गुप्त मता। कहि जागवलिक मुनि दीन्ह वता॥
हर रंचि भवानिहिं दीन्ह सोई। पुनि दीन्ह भुसुंडिहिं तत्त गोई॥
हौं जाइ भुसुंडि ते ताहि लहेउ। भरदाज मुनी प्रति आइ कहेउ॥
दोहा—यहि विधि मुनि परितोष लहि, पद गहि पाय प्रसाद।
सुनै जुगल मुनिवर्य कर, तहाँ विमल संवाद॥ ३४॥
तेहि ठाँव गए जब दूजे दिना। थल सून निहारु मुनीस विना॥
वट छाँह न सो नहिं पर्नकुटी। मन विसमय बाढ़ेउ मर्म पुटी॥
उर राखि उभय मुनि सील चले। हरि प्रेरित कासि की ओर ढले॥
कछु दूरि गए सुधि आइ जवै। मन सोचत का करिए जु अवै॥
जो भया सो भयो अव याहि सधै। हर दरसन कै चलिहौं अवधै॥
मन ठीक किए मग आगु बढ़े। चलि कै पुनि सुरसरि तीर कढ़े॥
तव तीरहिं तीर चले चित दे। भइ साँझ जहाँ सो तहाँ टिकिगे॥
दिग वारि पुरा विच सीतामढ़ी। तहँ आसन डारत वृत्ति चढ़ी॥
नहिं भूख न नींद विछिप्त दसा। उर पूरव जन्म प्रसंग वसा॥
दोहा—सीतावट तर तीन दिन, वसि सुकवित्त वनाय।
वंदि छोड़ावन विंध नृप, पहुँचे कासी जाय॥ ३५॥
भगत सिरोमनि घाट पै, विप्र गेह करि वास।
राम विमल जस कहि चले, उपज्यो हृदय हुलास॥ ३६॥
दिन माँ जितनी रचना रचते। निसि माहिं सुसंचित ना वचते॥
यह लोपक्रिया प्रति द्यौस सरै। करिए सो कहा नहिं बूझि परै॥
अठवें दिन संभु दिए सपना। निज वोलि में काव्य करो अपना॥
उचटी निंदिया उठि वैठु मुनी। उर गूँजि रह्यो सपने की धुनी॥

प्रगटे सिव संग भवानि लिए। मुनि आठहु अंग प्रणाम किए॥
सिव भाषेउ भाषा में काव्य रचो। सुर वानि के पीछे न तात पचो॥
सब कर हित होइ सोई करिए। अरु पूर्व प्रथा मत आचरिए॥
तुम जाइ अवधपुर बास करो। तहँई निज काव्य प्रकास करो॥
मम पुन्य प्रसाद सों काव्य कला। होइहै सम साम रिचा सफला॥

सोरठा—कहि अस संभु भवानि, अन्तर्धान भए तुरत।
आपन भाग्य बखानि, चले गोसाईं अवधपुर॥ ९॥

दोहा—जेहि दिन साहि सभान में, उदय लह्यो सन्मान।
तेहि दिन पहुँचे अवध में, श्री गोसाईं भगवान॥ ३७॥

सरयू करि मज्जन गव दिन में। विचरे पुलि नारन वीथिन में॥
एक संत मिले कहने सो लगे। थल रम्य लखैं महवीरी लगे॥
लै संग सो ठाम दिखायो भले। वट की विटपावलि पुन्य थले॥
तिन माँ वट एक विसाल यही। तिसु मूल में वेदिका सोहिं रही॥
तिसु ऊपर बैठु सिंघासन से। एक सिद्ध प्रसिद्ध हुतासन से॥
थल देखि लोभायो गोसाइं मना। वसिए यहि ठावँ कुटीर बना॥
जब सिद्ध के सन्निधि मो गुदरे। तजि आसन सो जय जय उचरे॥
सो कह्यो गुरु मोर निदेस दियो। तेहि कारन हौं यह वास लियो॥
गुरु मोर बतायउ मर्म सबै। सो तो देखत हौं परतच्छ अबै॥

कुं०—मम गुरु कहेउ कि करहि किन सिद्ध पृष्ठ थल वास।
कछु दिन बीते कहहिंगे हरि जस तुलसीदास॥
हरिजस तुलसीदास कहहिंगे यहि थल आई।
आदि कवी अवतार वायुनंदन बल पाई॥
राजराज वट रोपि दियो मरजाद समुत्तम।
वसि यह ठाहर ठाटु मानि अति हित सासन मम॥ १॥

सोरठा—जब ऐहैं यहि ठाम, हुलसी सुत तिसु हेतु हित।
सौंपि कुटी आराम, तन तजि ऐहहु मम निकट॥ १०॥

उपदेस गुरु मोहिं नीक लग्यो। बहु जन्म पुरातन पुन्य जग्यो ॥
बसिकै रसिकै तपिकै चौरी। हौं जोहत बाट रहेँउ रौरी ॥
अब राजिय गाजिय नाथ यहाँ। हौं जाव बसे गुरु मोर जहाँ ॥
कहिके अस वेदिका ते उतरयो। सिर नाइ सिधारेउ दूरि परयो ॥
तहँ आसन मारिकै ध्यान धरयो। तिसु जोग हुतासन गात जरयो ॥
यह कौतुक देखि गोसाइं कहै। धनुधारि तेरी बलिहारि अहै ॥
निवसे तहँ सौख्य सुपास लहै। दृढ संयम जो सम योग गहे ॥
पय पान करैं सोउ एक समय। रघुवीर भरोस न काहुक भय ॥
जुग वत्सर बीत न वृत्ति डगो। इकतीस को संवत आइ लगो ॥

दोहा—रामजन्म तिथि वार सब, जस त्रेता महँ भास।
तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लग्न ग्रह रास ॥ ३८ ॥
नवमी मंगलवार सुभ, प्रात समय हनुमान।
प्रगटि प्रथम अभिषेक किय, करन जगत कल्यान ॥ ३९ ॥
हर, गौरी, गनपति, गिरा, नारद, सेष सुजान।
मंगलमय आसिष दिए, रवि, कवि, गुरु गिरवान ॥४०॥

सोरठा—यहि विधि भा आरंभ, रामचरितमानस विमल।
सुनत मिटत मद दंभ, कामादिक संसय सकल ॥११॥

दुइ वत्सर सातेक मास परे। दिन छब्बिस माँझ सो पूर करे ॥
तैंतीस को संवत औ मगसर। सुभ द्यौस सुराम विवाहहि पर ॥
सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को ॥
पाखंड प्रपंच बहावन को। शुचि सात्त्विक धर्म चलावन को ॥
कलि पाप कलाप नसावन को। हरि भगति छटा दरसावन को ॥
मत वाद विवाद मिटावन को। अरु प्रेम को पाठ पढ़ावन को ॥
संतन चित चाव चढ़ावन को। सज्जन उर मोद बढ़ावन को ॥
हरि-रस हर वस समुझावन को। स्रुति सम्मत मार्ग सुझावन को ॥
युत सप्त सोपान समाप्त भयो। सदग्रंथ बन्यो सुप्रबंध नयो ॥

दोहा—महिसुत वासर मध्य दिन, सुभ मिति तत्सतकूल।
सुर समूह जय जय किए, हर्षित बरषे फूल ॥ ४१ ॥
जेहि छिन यह आरंभ भो, तेहि छिन पूरेउ पूर।
निर्वल मानव लेखनी, खींचि लियो अति दूर ॥ ४२ ॥
पाँच पात गनपति लिखे, दिव्य लेखनी चाल।
सत, सिव, नाग, अरु ध्रू, दिसप, लोक गए तत्काल ॥ ४३ ॥
सब के मानस में बसेउ, मानस रामचरित्र।
वंदत रिषि कवि पद कमल, मन क्रम वचन पवित्र ॥ ४४ ॥
वंदौ तुलसी के चरन, जिन कीन्हों जग काज।
कलि समुद्र बूड़त लख्यो, प्रगटेउ सप्त जहाज ॥ ४५ ॥
परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ दानि।
तुलसीकृत रघुपति कथा, कै सुरसरि रसखानि ॥ ४६ ॥

सोरठा—प्रगटे श्री हनुमान, अथ सों इति लौं सव सुनै।
दिए सुभग वरदान, कीरति त्रिभुवन बस करो ॥ १२ ॥

मिथिला के सुसंत सुजान हते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते ॥
सुचि नाम रुपारुन स्वामि जुतो। तेहि अवसर औध में आयो हुतो ॥
प्रथमै यह मानस तेई सुने। तिनही अधिकारि गोसाइं गुने ॥
स्वामि नंद सुलाल को शिष्य पुनी। तिसु नाम दलाल सुदास गुनी ॥
लिखिकै सोइ पोथि स्वठाम गयो। गुरु के ढिग जाय सुनाय दयो ॥
जमुना तट पै त्रय वत्सर लों। रसखानहिं जाइ सुनावत भो ॥
तब ते बहुसंख्यक पात लिखै। कछु लोगन औ निज हाथ रिपै ॥
मुकुतामनि दास जु आयो हतो। हरि सयन को गीत सुनायो हतो ॥
तिसु भावहि पै मुनि रीझि गए। पल मों पल भाँजत सिद्धि दए ॥

दोहा—तव हरि अनुसासन लहे, पहुँचे कासी जाय।
विश्वनाथ जगदंब प्रति, पोथी दियो सुनाय ॥ ४७ ॥

छंद—पोथी पाठ समाप्त कै के धरे, सिवलिंग ढिग रात में ।
मूरख पंडित सिद्ध तापस जुरे, जब पट खुलेउ प्रात में ॥
देखिन तिरपित दृष्टि ते सब जने, कीन्ही सही संकरम् ।
दिव्याषर सों लिख्यो पढ़ै धुनि सुने, सत्यं सिवं सुंदरम् ॥ ६ ॥

सिव की नगरी रस रंग भरी । यह लीला जु पाटि गई सगरी ॥
हरषे नर नारि जोहारि किए । जय जय धुनि बोलि बलैयाँ लिए ॥
पै पंडित लोगन सोच भयो । सब मान महातम जीव गयो ॥
पढ़िहैं यह पोथि प्रसादमयी । तब पूछिहैं कौन हमें मनयी ॥
दल बाँधि ते निन्दत बागत मे । सुर बानि सराहत पागत भे ॥
कोउ ग्रंथ चोरावन हेतु रचे । फरफंद अनेक प्रपंच पचे ॥
निधुआ सिखुआ युग चोर गए । रखवार विलोकि निहाल भए ॥
तेहि पूछे गोसाईं ते कौन धुही । जुग स्यामल गौर धरे धनुही ॥
सुनि बैन भरै जल नैन कहे । तुम धन्य हवे हरि दरस लहे ॥

दोहा—तजि कुकरम तसकर तरे, दिय सब वस्तु लुटाय ।
जाइ धरे टोडर सदन, पोथी जतन कराय ॥ ४८ ॥

पुनि दूसर पात लिख्यो रुचि सों । तेहि ते लिपि पै लिपि होन लगो ॥
दिन दून प्रचार बढ़े लखिकै । सब पंडित हारे हिया झखिकै ॥
तब मिस्र बटेसर तांत्रिक ही । दुख दाह सुधीगन रोय कही ॥
तिन मारन केर प्रयोग कियो । हठि भैरव प्रेरि पठाय दियो ॥
हनुमंत से रच्छक देखि डरे । उलटे सुबटेसर प्रान हरे ॥
तब हारि चले दल को सजि के । मधुसूदन सरस्वति के मठ पै ॥
कहे कीन्ह प्रमान महेस सही । किसु कोटि को है नहिं बात कही ॥
स्रुति सास्त्र पुरान इतिहास इये । केहिके समकच्छ तिसै कहिये ॥
यतिराज कहै मँगवाउब जू । तब पोथि बिलोकि बताउब जू ॥

दोहा—जति मँगाय पोथी पढ़े, उपज्यो परमानंद ।
फेरि दिए लिखि श्लोक यह, जयति सच्चिदानंद ॥ ४९ ॥

श्लो०—आनंदकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसी तरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता ॥ १ ॥

जब पंडित आए कहे तिन ते। किन पूछिय बात सदासिव से ॥
निगमागम सास्त्र पुरान सबै। क्रम ते धरि मानस नीचे फबै ॥
जब होत विहान खुलेउ पट तो। सब दृष्टि परे तेहि देखन को ॥
लखि वेद के ऊपर मानस ही। सब पंडित लाज गरे तितही ॥
चरनों पै पड़े चरनोदक लै। अपराध कराइ छमा घर गै ॥
नदिया को सुपंडित दत्त रवी। सब सास्त्र विसारद आसु कवी ॥
सुनि ते हठि बाद विवाद कियो। अरु हारि विषाद बढ़ायो हियो ॥
जब न्हान गोसाईं गए मठ ते। तब मारन हेतु गयो लठ ले ॥
हनुमंत सुरच्छक देखि भज्यो। अपनी करनी पर आपु लज्यो ॥
पुनि जाइ गोसाइं रिझाय लियो। वर हेतु सुधी हठ भूरि कियो ॥

छंद—माँगेउ सो वर तजिए पुरी मुनि विवस भे वर के दिए।
कासिनाथ कहि निपरत होंहिं कवित्त बनाय दृढ़ निस्चय किए ॥
सो लिखि धरे हर मंदिरहिं प्रस्थान दच्छिन दिसि किए।
सिव दै दरस समुझाइ फेरे छुभित मन धीरज दिए ॥ ७ ॥

दोहा—सुनि प्रस्थान मुदित भयो, गयो दरस हित धीर।
बंद भयो पट धुनि भई, कोप सहित गंभीर ॥ ५० ॥

सोरठा—जाइ गोसाईं मनाउ, पग परि बहु विधि विनय करि।
पुरि महँ लाइ बसाउ, ना तो होइहि नास तव ॥ १३ ॥

सुनि टोडर आय कियो विनती। मुनि मानिय सेवक की मिनती ॥
प्रिय घाट असी पर भौन नयो। बनिकै सह घाट तयार भयो ॥
बसिकै सुख सों सुख देइय जू। पदकंज सदा हम सेइय जू ॥
सुख मानि गए तेहि ठाम बसे। रघुवीर गुनावलि माँहि रसे ॥
कलि आयउ रात कृपान लिए। मुनि कहँ बहु भाँति सों त्रास दिए ॥
सो कहेउ जल बोरहु पोथि निजै। न तो दाढ़िहौं ताड़िहौं चेतु अवै ॥

कहिके अस सो जु सिधारो जवै। मुनि ध्यान धरेउ हरि हेतु तवै ॥
हनुमंत कह्यो कलि ना मनिहै। मोहिं वरजत वैर महा ठनिहै ॥
लिखिकै विनयावलि देहु मोहीं। तव दंड दियाउव वात ओही ॥

दोहा—विदित राम विनयावली, मुनि तव निर्मित कीन्ह।
सुनि तेहि साखी युत प्रभू, मुनिहिं अभय कर दीन्ह ॥ ५१ ॥

मिथिलापुर हेतु पयान किए। सुकृती जन को सुख सांति दिए ॥
भृगु आस्रम में दिन चारि रहे। करहीन जुवा कर पाप दहे ॥
दिन एक वसे मुनि हंसपुरा। परसी को सुहाग दिए वहुरा ॥
गउघाट में राउ गभीर घरे। दुइ वासर लों तहँवाँ ठहरे ॥
व्रह्मेस सुदरसन कैके चले। पुनि कांत व्रह्मपुर माँ निकले ॥
सँवरू-सुत माँगरु ग्वाल हतो। दुहि दूध दियो सुर साधु रतो ॥
वर दीन्ह तजे चोरहाई सहूँ। निरवंस न होवहुगे कवहूँ ॥
तव वेलापतार में आय रहे। तहँ दास धनी निज कष्ट कहे ॥

छंद—कहे कष्ट आपन कालिह जाइहि प्रान मम पातक वयों।
मूसहिं खवायो भोग कहि कहि खात हरि सौंहैं कियो ॥
रघुनाथसिंह जानेउ दगा करि कोप सो वोलेउ सुने।
नहिं खाहिं ठाकुर सामुहे मम तोपि वध निस्चय गुने ॥ ८ ॥

सोरठा—मुनिवर धीरज दीन्ह, कियो रसोई साधु तव।
सन्मुख भोजन कीन्ह, ठाकुर लखि रिषि इमि कहेउ ॥ १४ ॥

दोहा—तुलसी झूठे भगत की, पत राखत भगवान।
जिमि मूरख उपरोहितहिं, देत दान जजमान ॥ ५२ ॥

निज गेह पवित्र करावन को। लै गो मुनि को वर नायक सो ॥
तहँ भक्त सुगोविंद मिस्र मिले। जिसु दृष्टि ते लोह घना पिघिले ॥
मुनि गाँव के नाँव में फेर करे। रघुनाथपुरा तिसु नाम परे ॥
तहँ तू चलिकै विचरे विचरे। अपि हरिहरखेत में जा पधरे ॥
पुनि संगम मंजि चले सपदी। नियराए विदेहपुरी छपदी ॥

धरि बालिका रूप विदेहललो। वहराय के खीर खवाय चली॥
जब जानेउ मर्म कहा कहिए। मन ही मन सोचि कृपा रहिए॥
द्विज लोगन हाला के घेरि रहे। अरु आपन घोर विपत्ति कहे॥
छत सूबा नवाब बड़ो रगरी। सो तो बारहो गाँव की वृत्ति हरी॥

दोहा—दाया लागि कर्त्तव्य गुनि, सुमिरे वायुकुमार।
दंडित करि बहुरायऊ, सुखयुत द्विज परिवार॥ ५३॥
सिथिला ते कासी गए, चालिस संवत लाग।
दोहावलि संग्रह किए, सहित विमल अनुराग॥ ५४॥
लिखे बालमीकी बहुरि, इकतालिस के माँहि।
मगसर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि॥ ५५॥
माधव सित सिय जनम तिथि, ब्यालिस संवत बीच।
सतसैया बरनै लगे, प्रेम बारि ते सींच॥ ५६॥

सोरठा—उतरु सनीचरि मीन, मरी परी कासीपुरी।
लोगन ह्वै अति दीन, जाइ पुकारे रिषि निकट॥१५॥
लागिय नाथ गोहार अपर बल कछु न बिसाता।
राखैं हरि के दास कि सिरजनहार विधाता॥

दोहा—करुनामय मुनि सुनि विथा, तंत्र कवित्त बनाय।
करुनानिधि सों विनय करि, दीन्ही मरी भगाय॥ ५७॥

कवि केसवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कवि जानि के दरसन हेतु गए। रहि बाहिर सूचन भेजि दिए॥
सुनिकै जु गोसाइं कहै इतनो। कवि प्राकृत केसव आवन दो॥
फिरिगे झट केसव सो सुनिकै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनिकै॥
जब सेवक टेरेउ गे कहिकै। हौं भेंटिहौं कालिह विनय गहिकै॥
घनस्याम रहै घासिराम रहै। बलभद्र रहै विस्राम लहै॥
रचि राम सुचंद्रिका रातिहि में। जुरै केसव जू असि घाटिहि में॥

सतसंग नमी रस रंग मची। दोउ प्राकृत दिव्य विभूति खची ॥
मिटि केसव को संकोच गयो। उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥

दोहा—आदिल साही राज के, भाजक दान बनेत।
दत्तात्रेय सुविप्रवर, आए रिषय निकेत ॥ ५८ ॥
करि पूजा आसिष लहै, माँगे पुन्य प्रसाद।
लिखित बालमीकी स्वकर, दिए सहित अहलाद ॥ ५९ ॥
अमरनाथ जोगी तिया, हरि वैरागी लीन।
ताते कोपि तिनहिं रहित, कंठी माला कीन ॥ ६० ॥
मच्यो कोलाहल साधु सब, आए मुनिवर पास।
फेरि मिल्यो सो आसनन, रिषय कृपा अनयास ॥ ६१ ॥
आयो सिद्ध अघोरिया, अलख जगावत द्वार।
छिन महँ सिद्धाई हरी, उपदेसेउ स्रुति सार ॥ ६२ ॥

निमिषार को विप्र सुधर्मरता। वनखंडि सुनाम विमोह गता ॥
सब तीरथ लुप्तहिं चाहु थपै। तिसु हेतु सदासिव मंत्र जपै ॥
इक प्रेत घना ढिग ठाढ़ भयो। बहु द्रव्य गड़ो सो दिखाइ दयो ॥
सो कह्यो धन लै सुभ काज सरो। यहि योनि तें मोर उबार करो ॥
मन हरषित विप्र कह्यो मोहि कोँ। चौधाम घुमाय सुतीरथ माँ ॥
तब कासि गुसाइं के तीर चलो। तिस दरसन होय तुम्हारो भलो ॥
सुख मानि कै तै सोइ प्रेत कियो। नभ माहिं असी पर छेक छियो ॥
जन सोर मच्यो बहु लोग जुरे। सब कौतुक देखहिं अंग फुरे ॥
निज आस्रम ते कढ़ि आयो मुनी। नभ ते भयो जय जयकार धुनी ॥

दोहा—दिव्य रूप धरि जान चढ़ि, प्रेत गयो हरिधाम।
तुलसी दरस प्रभाव ते, सोक्ष भयो विधि बाम ॥ ६३ ॥
वनखंडी महि पर गिरेउ, पग छुइ कियो प्रनाम।
मुनि सन सब व्यवरा कह्यो, बसेउ रसेउ तेहि ठाम ॥ ६४ ॥

तासु विनय वस मुनि चले, तीरथ थापन काज।
पहुँचे अवधहिं पाँच दिन, तहाँ टिके रिषिराज ॥ ६५ ॥

दै रामगीतावलि गायक को। जे गावहिं जस रघुनायक को ॥
मन बोध तिवारिहिं औध छटा। सब कंचनमय वन भूमि अटा ॥
देखरा के चले रौ नाही टिके। पुनि सूकरखेत में जाय थिके ॥
सियावार सुगाँव में वास लिए। तहँ सीता सुकूप को पाथ पिए ॥
पहुँचे लखनैपुर मोद भरे। अरु धेनुमती तट पै उतरे ॥
कहुँ दीनन को प्रतिपाल करैं। कहुँ साधुन के मन मोद भरैं ॥
कहुँ लखन लाल को चरित बचैं। कहुँ प्रेम मगन ह्वै आपु नचैं ॥
कहुँ रामायन कल गान सचैं। उत्साह कोलाहल भूरि मचैं ॥
कहुँ आरत जन को ताप हरैं। कहुँ अज्ञानिन उर ज्ञान धरैं ॥

दोहा—निरधन भाट दमोदरहिं, आसिप दै कवि कीन।
लहेउ विपुल धन मान बहु, भा कविकला प्रवीन ॥ ६६ ॥
तहँ ते मलिहाबाद में, आय संत सिरताज।
रामायन निज कृत दिए, व्रजवल्लभ भटराज ॥ ६७ ॥
पुनि अनन्य माधव मिले, कोटरा ग्रामहिं जाय।
माता प्रति सिच्छा सुने, भगति दिए बतलाय ॥ ६८ ॥

पुनि जाय विठूर में रैनि वसे। सरि मज्जत पाँक में जाइ धँसे ॥
गहि बाँह निकारेउ जन्हुसुता। तन तायो जरा न रही जु बुता ॥
तहँ ते चलि जाय सँडीले परे। गौरी संकर गृह माथ धरे ॥
कहे या घर में लीन्है जनम पखा। मनसूखा स्वयं श्री कृस्न सखा ॥
कछु काल गए सोइ जन्म धर्‍यो। बंसीधर ताकर नाम पर्‍यो ॥
कवि भो मुनिवर उपदेस कियो। पख रास सुनै तनु त्याग दियो ॥
तेहि व्योम बिमान पै जात लख्यो। हलवाई सुसिद्ध प्रवीन मख्यो ॥
सत्संगिन देखि निहाल भए। उपदेस सनातन पूर लए ॥

दोहा—संडीले ते मुनि चले, मग ठाकुर छितिपाल।
नमन कियो नहिं मद मतो, तुरत भयो कंगाल ॥ ६८ ॥
सोरठा—विप्रन किय अपमान, ताते ते निरधन भए।
कैथन किय सनमान, सुखी भए धन बंस लहि ॥ ६९ ॥
दोहा—जुरै जुलाहे भेंट धरि, लहै विपुल धन धान्य।
पहुँचे नैमिष वन मुनी, सर्व तंत्र सम्मान्य ॥ ७० ॥
सोधि सकल तीरथ थपे, किय त्रय मास निवास।
मिले पिहानी के सुकुल, संवत लगु उनचास ॥ ७१ ॥
खैराबाद को सिद्ध प्रवीन धरे। मुनि आपुइ जोग ते जाइ परे ॥
करि ताहि निहाल चले मिसरिप। संग में वनखंडि दुचारिक सिष ॥
पुनि नाव चढ़े सुख सों विचरे। पुर राम सुनैं तुरतै उतरे ॥
नृप सेवक टंटा वेसाहि रहे। सब माल मता तजि राह गहे ॥
सिंहराम सुनो पग दौरि गह्यो। करिके सु विनय पद टेकि रह्यो ॥
तब लौटि परे तिसु धाम बसे। हनुमंतहिं थापि तहाँ विलसे ॥
वंसीवट नाम धर्यो वटरय। मगसर सुदि पंचमी रास रचय ॥
वृंदावन में तहँ ते जु गए। सुठि राम सुघाट पै वास लए ॥
बड़ धूम मचो सुचि संत घरे। मुनि दरसन को नर नारि जुरे ॥
दोहा—स्वामी नाभा ढिग गए, ते किय बहु सम्मान।
उच्चासन पधराइ मुनि, पूजे सहित विधान ॥ ७२ ॥
विप्र संत नाभा सहित, हरि दरसन के हेत।
गए गोसाइं मुदित मन, मोहन मदन निकेत ॥ ७३ ॥
राम उपासक जानि प्रभु, तुरत धरे धनुवान।
दरसन दिए सनाथ किय, भगत-वछल भगवान ॥ ७४ ॥
बरसाने में लीला सो व्यापि गई। मुनि आसन पै वढ़ि भीर भई ॥
कछु कृस्न उपासक देष भरे। धनुवान धरे पर मोह सरे ॥
तिनको समुझाए सुतत्त्व महा। जन को प्रन राम न राख्यो कहा ॥

सुभ दच्छिन देस ते जात हतो। हरि मूरति अवधहिं थापन को ॥
विस्राम भयो जमुनातट पै। लखि मूरति मोहे विप्र उदै ॥
सो चहो हरि विग्रह वाई थपै। बिनती किय जाइ गोसाइहिं पै ॥
न उठाए उठे जब सो प्रतिमा। तब थापित कीन्ह तहँ जिजिमा ॥
तिसु नाम कौसिल्या-नंदन जू। मुनिराज धरै जग वंदन जू ॥
नंददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन सेस सनातन तीर पढ़े ॥
सिच्छा गुरु बंधु भए तेहिते। अति प्रेम सों आय मिले यहि ते ॥

दोहा—हित सुत गोपीनाथ प्रति, महिमा अवध बखानि।
जेहि नहिं ठाँव ठिकान कहुँ, तिनहिं बसावत आनि ॥ ७५ ॥

फेरि अमनिया दिए पुनि, सखरा ताहि बताय।
हलवाई बनिकन सदन, बालकृस्न दिखराय ॥ ७६ ॥

सोरठा—इमि लीला दरसाय, भगतन उर आनंद भरि।
चित्रकूट महँ जाय, किए कछुक दिन वास तहँ ॥ १७ ॥

सतकाम सुविप्र गोसाई लगे। दीच्छाहित आयो सुवृत्ति जगे ॥
लखि कामविकार न सिप्य किए। टिकिगो तहँ सो हठ ठानि हिए ॥
जब राति में रानि कदंब लता। आइ तासु बिलोकन सुंदरता ॥
तिन दीपक बाति बढ़ाइ लियो। लखिकै मुनि सुंदर सीख दियो ॥
सो विप्र लजाइ कै पाँय पर्यो। करिकै मुनि छोह विकार हर्यो ॥
पुनि विप्र दरिद्र महा जलपा। मंदाकिनि डूबन हेतु चला ॥
तिसु प्रान बचावन हेतु रिपय। सुठि दारिद मोच सिला प्रगटय ॥
पुनि साहि खवास पठायउ जू। मुनिराजहिं दिल्ली बुलायउ जू ॥

दोहा—चले जमुन तट नृप तिलक, साधु कियो सरनास।
राधा वल्लभ भगति दिय, रीझे स्यामा स्याम ॥ ७७ ॥

सोरठा—उड़छै केसवदास, प्रेत हतो घेरेउ मुनिहिं।
उधरे बिनहिं प्रयास, चढ़ि विमान स्वर्गहिं गयो ॥ १८ ॥

चरवारि के ठाकुर की दुहिता। जिसु सुंदरता पै जग मुदिता ॥
इक नारिहिं ते तिसु व्याह भयो। जब जानेउ दारुन दाह भयो ॥
वर की जननी जनमावत हीं। सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कही ॥
अनुकूलहिं साज समान कियो। जे जानत भे तिहि पूजि दियो ॥
यहि कारन धोखा भयो बहुतै। अब रोवत मींजत हाथ सबै ॥
तिन घेरे दया लगि संत हिए। तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किए ॥
विश्राम लगायो सो जानिय जू। तिसु सब्द प्रथम यह आनिय जू ॥
हिय, सत, अरु कीन्हरु स्याम लगा। औ राम सैल पुनि हारि पगा ॥
कह मारुत सुत, जहँ तहँ, पुन्यं। इति पाठ नवाह्निक ठाम अयं ॥

दोहा—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाठ विराम।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम ॥ ७८ ॥

तहँ ते पँचयें दिन मुनी, पहुँचे दिल्ली जाय।
खबरि पाय तुरतहिं नृपति, लिय दरबार बुलाय ॥ ७९ ॥

दिल्लीपति विनती करी, दिखरावहु करमात।
मुकरि गए बंदी किए, कीन्हे कपि उतपात ॥ ८० ॥

बेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब बाम।
हाहाकार मच्यो महल, पटको नृपहिं धड़ाम ॥ ८१ ॥

मुनिहिं मुक्त तत छन किए, छमापराध कराय।
विदा कीन्ह सनमान जुत, पीनस पै पधराय ॥ ८२ ॥

चलि दिल्ली ते आए महावन में। निसि बास किए जु अहीरन में ॥
इक ग्वार भगीरथ पै ढुरिगे। तेहि सिद्ध सुसंत बनावत भे ॥
दसएँ दिन ब्रौधहिं आय रहे। भरि पाख तहाँ सुसताय रहे ॥
हरिदास सुभक्त सुगीत रयो। तेहि माँ कछु सब्द असुद्ध भयो ॥
सुधराए मुनी पै न बोध भयो। तिसु कीर्त्तन में अवरोध भयो ॥
सपने मुनी ते रघुबीर कह्यो। नहिं सुद्ध असुद्ध सुभाव गह्यो ॥

जब जाइ मुनि तिसु भाव भरो। जस गावत हौ तस गाया करो ॥
सुनि बालचरित्र अनंदित ह्वै। मुनि तुष्ट किए सुपटंवर दै ॥
दोहा—देव मुरारी भेंट मिलि, सहित मलूकादास।
पहुँचे कासी में रिषय, किए अखंड निवास ॥ ८३ ॥
सुचि माघ में गंग नहाय हते। सरि भीतर मंत्र महा जपते ॥
तन वृद्ध सो काँपत रोम अड़े। गनिका रहि देखत तीर खड़े ॥
कढ़िकै मुनि सींचेउ वस्त्र धरे। दुइ बुंद सोई गनिका पै परे ॥
वेस्या मन में निरवेद जगो। वहु दृश्य निरय दिखरान लगो ॥
सब पाप प्रपंच ते दूर भगी। उपदेस ले हरिगुन गान लगी ॥
हरिदत्त सु विप्र दरिद्र महा। तिसु गंग के पार में वास रहा ॥
मुनि के ढिग आय विपत्ति कही। जस दीन दसा घर केर रही ॥
ऋषि अस्तुति गंग वनाय करी। सुरसरि दै भूमि विपत्ति हरी ॥
दोहा—निंदक मुनि अरु भगतिपथ, भुलई साहु कलार।
निधन भयउ टिकठी धरे, लैगे फूकनहार ॥ ८४ ॥
तासु तिया रोवत चली, मुनि ढिग नायउ सीस।
सदा सोहागिन रहहु तुम, मुनिवर दीन्ह असीस ॥ ८५ ॥
विलखि कही सो निज दसा, सब मुनि लिए मँगाय।
चरनामृत मुख देइकै, तुरतै दिए जियाय ॥ ८६ ॥
तेहि वासर ते मुनि नेम लिए। अरु वाहिर वैठव त्यागि दिए ॥
रहे तीन कुमार वड़े सुकृती। मुनि चरनन में तिनकी भगती ॥
रिषि केस रह्यो मनिकर्निका पै। विसुनाथ के मंदिर सांति पदै ॥
अनपूर्ना में दाता दीन रहे। रहनी गहनी सम साम गहे ॥
मुनि दरसन को नित आवत जू। चरनोदक लै घर जावत जू ॥
पहिचानि सुप्रीति मुनी तिनकी। सुचि टेक विवेक समीचिन की ॥
तिनके हितही बहिरायँ मुनी। दैके दरसन भितरायँ पुनी ॥
सब दरसक वृंद चवाव करैं। मुनि पै पछपात को दोष धरैं ॥

दिन एक परीच्छा लीन मुनी। बहिराए नहीं सोइ भाव गुनी ॥
तन तीनिउ ता छिन त्यागि किए। चरनोदक जीवन दान दिए ॥

दोहा—सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयू पाइकै, टोडर तजै सरीर ॥ ८७ ॥
मीत विरह में तीन दिन, दुखित भए मुनि धीर।
समुझि समुझि गुन मीत के, भर्‌यो विलोचन नीर ॥ ८८ ॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि, बाँटि दिए घर बार ॥ ८९ ॥
नख सिख कर्ता आसु कवि, भीषमसिंह कनगोय।
आयो मुनि दरसन कियो, त्यागेउ तन हरि जोय ॥ ९० ॥
गंग कहेउ हाथी कवन, माला जपेउ सुजान।
कठमलिया वंचक भगत, कहि सो गयो रिसान ॥ ९१ ॥
छमा किए नहिं स्राप दिय, रँगे सांति रस रंग।
मारग में हाथी कियो, झपटि गंगतन भंग ॥ ९२ ॥
कवि रहीम बरवा रचे, पठए मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना किए प्रकास ॥ ९३ ॥
मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोय।
मुनि प्राचे मंत्रित किए, सुख पावें सब कोय ॥ ९४ ॥
बाहु पीर व्याकुल भए, बाहुक रचे सुधीर।
पुनि विराग संदीपनी, रामाज्ञा सकुनीर ॥ ९५ ॥
पूर्व रचित लघु ग्रंथननि, दोहराए मुनि धीर।
लिखवाए सब आन ते, भो अति छीन सरीर ॥ ९६ ॥
जहाँगीर आयो तहाँ, सत्तर संवत बीत।
धन धरती दीबो चहै, गहे न गुनि विपरीत ॥ ९७ ॥
बीरबल की चर्चा भई, जो पटु वागविलास।
बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, मुनि किय खेद प्रकास ॥ ९८ ॥

अवधपुरी को चोहड़हिं, अवधवासि प्रिय जानि।
हृदय लगाए प्रेमवस, रामरूप तेहि मानि ॥ ९९ ॥
सिद्ध वृंद गिरिनार के, नभ ते उतरे आय।
करि दरसन पुलकित भए, प्रस्न किए सतिभाय ॥ १०० ॥
जोग न भगति न ग्यान वल, केवल नाम अधार।
मुनि उत्तर सुनि मुदित मन, सिद्ध गए गिरिनार ॥ १०१ ॥
सोरठा—तुमहिं न व्यापै काम, अति कराल कारन कवन।
कहिय तात सुखधाम, जोग प्रभाव कि भगति वल ॥ १९ ॥
दोहा—वैठि रहे सुनि घाट पर, जुरै लोग वहुताय।
आयो भाट सुचंद्रमनि, विनय कियो परि पाय ॥ १०२ ॥

सवैया

पन दोइक भोग विषय अरुझान अव जो रह्यो सो न खसाइय जू।
अवलौं सव इंद्रिन लोग हँस्यो अव तो जनि नाथ हँसाइय जू ॥
मद मोह महा खल काम अनी मम मानस ते निकसाइय जू।
रघुनंदन के पद के सदके तुलसी मोहि कासी वसाइय जू ॥ १ ॥

दोहा—विनय सुनत पुलकित भए, कहि रिषिराज महान।
वसहु सुखेन इतै सदा, करहु राम गुन गान ॥ १०३ ॥
हत्यारा ढिग आयऊ, विप्र चंद तिसु नाम।
दूर ठाढ़ वोलत भयो, राम राम पुनि राम ॥ १०४ ॥
इष्ट नाम सुनि मगन भे, तुरत लिए उर लाय।
आदर जुत भोजन दिए, हरषि कहे रिषिराय ॥ १०५ ॥
तुलसी जाके मुखनि ते, धोखेहु निकसे राम।
ताके पग की पैतरी, मेरे तन को चाम ॥ १०६ ॥
समाचार व्याप्यो तुरत, वीथिन वीथिन माँझ।
ग्यानी ध्यानी विप्र भट, सुधी जुरै भई साँझ ॥ १०७ ॥

कैसे घातक शुद्ध भो, कहिए संत महान।
कहे जु नाम प्रताप ते, बाँचहु वेद पुरान ॥ १०८ ॥
कह्यौ लिख्यो तो है सही, होत न पै विश्वास।
मन माने जाते कहिय, सोइ कर्त्तव्य प्रकास ॥ १०९ ॥
कहे जो सिव को नादिया, गहे तासु कर ग्रास।
तव तो निश्चय उपजहीं, सव के मन विस्वास ॥ ११० ॥
मुनि प्रसाद ऐसहि भयो, चहुँ दिसि जय जयकार।
निंदक माँगे छमा सव, पग परि वारंवार ॥ १११ ॥
राम नाम दिन भर रटै, लोभ विवस मुनि थान।
साँझ समय तेहि विप्र कहँ, द्रव्य देत हनुमान ॥ ११२ ॥
राम दरस हित कमलभव, हठेउ कहेउ मुनिराय।
तरु ते कूदि त्रिसूल पै, दरस लेहु किन जाय ॥ ११३ ॥
गाड़ि सूल अरु विटप चढ़ि, हिम्मत हारेउ पात।
लखेउ पछाहीं वीर इक, अस्व चढ़े मग जात ॥ ११४ ॥
पूछेउ मर्म कहेउ कथा, सो चढ़ि विटप तुरंत।
कूदेउ उर विस्वास धरि, दीन्ह दरस भगवंत ॥ ११५ ॥
अंत समय हनुमत दिए, तत्त्व ग्यान को वोध।
राम नाम ही वीज है, सृष्टि वृच्छ नयग्रोध ॥ ११६ ॥
पर प्रस्थान की सुभ घड़ी, आयो निकट विचारि।
कहेउ प्रचारि मुनीस तव, आपन दसा निहारि ॥ ११७ ॥
रामचंद्र जस वरनिके, भयो चहत अव मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अव ही तुलसी सोन ॥ ११८ ॥
संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यो सरीर ॥ ११९ ॥
मूल गोसाईंचरित नित, पाठ करै जो कोय।
गौरी सिव हनुमत कृपा, राम परायन होय ॥ १२० ॥

सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
बिरच्यो यहि निज पाठ हित, वेनीमाधवदास ॥ १२१ ॥

इति श्री वेणीमाधवदास कृत मूलगोसाईंचरित समाप्तम्। श्री शांडिल्य गोत्रोत्पन्न पंक्तिपावन त्रिपाठी रामरत्त मणि रामदासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजया दशमी संवत् १८४८ भृगुवासरे ॥

[नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० ७ सं० ४

अनुक्रमणिका

न

प

व

भ

म

र